वर्ष २, अंक १२

दिसम्बर १९५२

भारत माता

[आगामी विश्व-विकासका सूचक मासिक]

प्रबंध-संपादक
केशवदेव पोद्दार

सम्पादक
श्यामसुंदर झुनझुनवाला
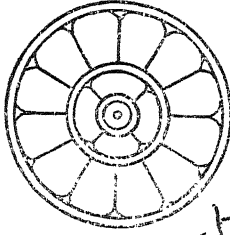
प्रकाशकः—
'भारत माता' कार्यालय
३२, रैंपर्ट रो, फोर्ट, बम्बई–१

वार्षिक मूल्य ६)]

[एक अंकका मूल्य ।।=)

विषय-सूची

भारत माता, दिसंबर १९५२

Le Directeur: HARADHAN BAKSHI

Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry

W. D. A 764—52-10-500
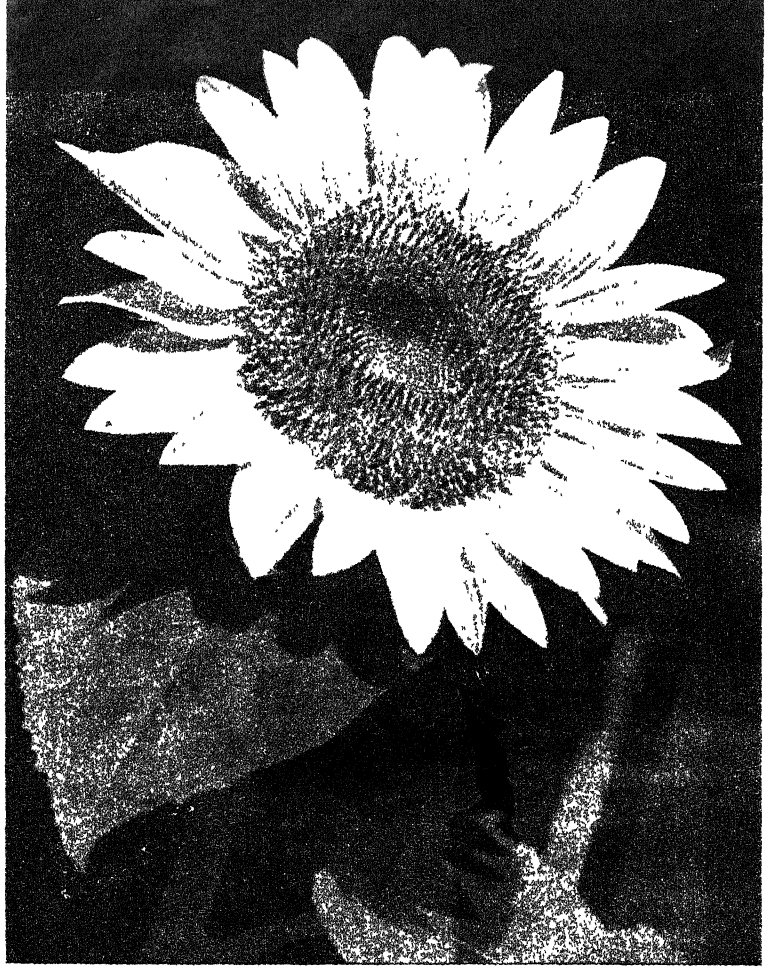
Consciousness turned towards the
Supramental Light

अतिमानस-ज्योति की ओर
मुड़ी हुई चेतना

[श्रीप्रणव
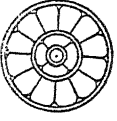
२४ नवंबर १९५२

पूर्णयोगके महान् साहसिक कार्यमें श्रीअरविन्दका अनुसरण करनेके लिये हमें सदा ही आवश्यकता होती थी योद्धा बननेकी; पर अब, जब कि उन्होंने शरीरसे हमें छोड़ दिया है, हमे आवश्यकता है वीर बननेकी।

—श्रीमां
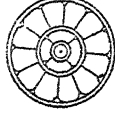
प्रार्थना

...हे परमेश्वर! मै भक्तिके साथ जो एक साथ ही प्रसन्नतापूर्ण और गम्भीर है तेरी ओर मुड़ रही हूं और तुझसे प्रार्थना कर रही हूं :-

तेरा प्रेम अभिव्यक्त हो,

तेरा राज्य प्रस्थापित हो,

तेरी शांति इस जगत्का संचालन करे।

१६ दिसंबर. १९१३.

—श्रीमां

श्रीमांकी दिव्य वाणी

कठिनाइयां और सहायता (२)

उद्घाटनका अर्थ है ग्रहण करनेकी तथा उन्नतिके लिये शक्ति और प्रभावका उपयोग करनेकी इच्छा; दिव्य चेतनाके संस्पर्शमें बने रहनेकी सतत अभीप्सा; यह विश्वास कि शक्ति और चेतना बराबर ही तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे भीतर है और बस तुम्हें इतना ही करना है कि तुम उन्हें ग्रहण करनेके मार्गमें किसी चीजको खड़ी न होने दो।

★

यह ठीक है कि भागवत संरक्षण बराबर ही हमारे चारों ओर विद्य-मान है, पर वह पूर्ण रूपसे केवल तभी कार्य करता है जब हमारे सामन ऐसी विपत्तियां आ उपस्थित होती हैं जो कि अनिवार्य होती हैं; कहने-का तात्पर्य, जब हम भगवान्‌के लिये काम करते होते हैं और अगर एका-एक हमारे मार्गमें विपत्तियां उठ खड़ी होती हैं तो फिर संरक्षण अधिक-से-अधिक कार्य करता है। पर कोई ऐसा कार्य आरंभ करना जो बिल-कुल ही आवश्यक न हो और यहांतक कि निश्चित रूपसे उपयोगी भी न हो और फिर जो चरम आपत्-संकुल हो और फिर ऐसी हालतमें यह आशा रखना कि भागवत संरक्षण सभी संभाव्य परिणामोंसे हमारी रक्षा करेगा---यह भगवान्‌को चुनौती देनेके समान है और भगवान् इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

★

जब हम पूर्ण रूपसे अचंचल और भयरहित बने रहते हैं तब कोई भी भारी घटना नहीं घटित होती।

★

भय बारबर ही बड़ा बुरा सलाहकार होता है।

★

एक बार जब मिथ्यापन जीत लिया जायगा तब सभी कठिनाइयां

दूर हो जायंगी।

*

वास्तवमें महान् अज्ञान ही वह चीज है जो हमारी सत्तासे अंधकार और विनाशकी शक्तियोंके सुझावोंका प्रत्युत्तर दिलाती है। अगर भगवान्‌की अनन्त करुणाके प्रति हमारे अंदर कृतज्ञताका सच्चा भाव हो तो हम ऐसे खतरोंसे अवश्य बच जायंगे।

*

विजय निश्चित है और इस निश्चयताके साथ हम चाहे जितने भ्रान्त सुझावों और विरोधी आक्रमणोंका मुकाबला धीरतापूर्वक कर सकते हैं।

*

हमें कभी विरोधी शक्तियोंको दुष्टता करनेका कोई मौक़ा नहीं देना चाहिये—वे तनिक-तनिकसी अचेतनताका लाभ उठाया करती हैं।

*

सच्चा आत्मदान ही समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंसे हमारी रक्षा करता है।

*

हां, मेरे बच्चे! यह बिलकुल ठीक है कि भगवान् ही एकमात्र आश्रय हैं—उनके साथ रहनेमें ही पूर्ण सुरक्षा है।

*

भविष्य

जो लोग योगजीवन ग्रहण करते हैं उनके लिये जन्मकुंडलीका कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि योगके द्वारा जो प्रभाव कार्य करता है वह नक्षत्रोंके प्रभावसे बहुत अधिक शक्तिशाली होता है।

*

अभिव्यक्तिका कार्य सभी कठिनाइयोंको पार कर जायगा, क्योंकि अभिव्यक्तिका अर्थ ही है समस्त कठिनाइयोंको पार कर जाना।

अनुभवों के प्रतिलेख

(श्रीमां)

करुणा और कृतज्ञता मूलतः अंतरात्मा के गुण हैं। ये चेतना में केवल तभी प्रकट होती हैं जब अंतरात्मा क्रियात्मक जीवन में भाग लेती है।

प्राण और शरीर इन्हें दुर्बलताएं मानते है क्योंकि ये उनके प्रचंड बल पर आधारित आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगाती हैं।

मन सदा ही, जब कि वह पर्याप्त रूप में शिक्षित नहीं होता, प्राण का पोषक एवं भौतिक प्रकृति का दास होता है जिसके नियमों को वह भली प्रकार नहीं जानता; ये नियम अपनी अर्द्ध-चेतन यांत्रिक क्रियाओं से उसे कुचल डालते हैं। जब मन अंतरात्मा के प्रथम स्पंदनों को अनुभव करता है, तब वह अज्ञानवश उन्हें विकृत रूप दे देता है, करुणा को दया या अधिक से अधिक उदारता में बदल देता है और कृतज्ञता को पुरस्कृत करने की इच्छा में, जो बाद में धीरे धीरे मान्यता देने तथा आदर करने की क्षमता बन जाती है।

तभी, जब आंतरात्मिक चेतना को सत्ता में प्रमुखतम स्थान मिल जाता है, करुणा और कृतज्ञता—करुणा उन सभी के लिये जो किसी भी क्षेत्र में हों और जिन्हें सहायता की जरूरत हो और कृतज्ञता भी उन सभी के प्रति जो भागवत उपस्थिति और भागवत कृपा को किसी न किसी रूप में व्यक्त करें—अपनी वास्तविक ज्योतिर्मयी विशुद्धता में अपने आप को व्यक्त करती हैं। तब करुणा में उपकार-भावना का और कृतज्ञता में हीनता की भावना का किंचित् भी मिश्रण नहीं होता।

१५. ६. ५२

(शारीरिक शिक्षण-पत्रिका, अगस्त १९५२ के अंक से)

अग्नि-स्तुति

(श्रीअरविन्द)

परुच्छेप ऋषिके आग्नेय सूक्त

मंडल १, सूक्त १२७.

(१)

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं
विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषा ऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ।।

[अग्नि मन्ये] मैं अग्निका ध्यान करता हूं जो [होतारं] आवाहन-का पुरोहित है, [वसुं दास्वन्तं] ऐश्वर्यको देनेवाला है, [सहसः सूनं] शक्तिका पुत्र है, [जातवेदसं] सब उत्पन्न वस्तुओंको जाननेवाला है, [जातवेदसं विप्रं न] और जो सब उत्पन्न वस्तुओंको जानकर और प्रकाशित बुद्धिवाले ज्ञानीकी तरह है।

(यः) जो अग्नि [स्वध्वरः] यात्रारूपी यज्ञमें पूर्ण होता हुआ [देवः ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा] और ऐसा देव होता हुआ जो कि अपनी ऊपर उत्पन्न हुई देवाभिमुखी इच्छासे युक्त है[1] [शोचिषा] अपनी ज्वालाके साथ [घृतस्य विभ्राष्टिं] प्रकाश हविकी जाज्वल्यमान प्रदीप्तिको [अनु वष्टि] चाहता है, [आजु ह्वा नस्य सर्पिषः] आहुति-रूपमें उंडेली जा रही इसकी धाराको चाहता है।

---

[1]अथवा 'जो कि उच्च, ऊपर उठी हुई, देवों को चाहनेवाली चमक [द्युति] से युक्त है।

(२)

यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभि-
र्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः।
परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम्।
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः॥

[यजिष्ठं, अंगिरसां ज्येष्ठं त्वा] यज्ञके लिये अत्यन्त शक्तिशाली और अंगिरसोंमें सबसे बड़े तुझको [यज्ञमाना हुवेम] हम यज्ञके करनेवाले बुलावें, [विप्र] हे प्रकाशमान देव [मन्मभिः] अपने विचारोंके द्वारा, [शुक्र] हे अत्यन्त दीप्यमान अग्ने! [विप्रेभिः मन्मभिः] अपने प्रकाशित विचारोंके द्वारा तुझे बुलावें, [चर्षणीनां होतारं] जो मनुष्योंका आवाहन-पुरोहित[1] और [द्यां इव परिज्मानं] द्युलोककी तरह सबको परिवृत करनेवाला है, [वृषणं शोचिष्केशं] पुरुष है ज्वालामय प्रकाश-रूपी बालोंवाला [यं इमा विशः विशः जूतये प्रावन्तु] जिसका कि ये उसमें प्रविष्ट होनेवाली प्रजायें उसकी प्रेरणाके लिये सेवन करें, उपासना करें।

(३)

स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो भवति द्रुहंतरः
परशुर्न द्रुहंतरः।
वीळु चिद् यस्य समृतौ श्रुवद् वनेव यत् स्थिरम्।
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते॥

[सः हि] वह अग्नि ही [पुरु चित् विरुक्मता ओजसा दीद्यानः] बहुत-सी वस्तुओंको अपने विशेष प्रकाशशील बलके द्वारा प्रकाशमान करता हुआ [द्रुहंतरः भवति] द्रोहियोंको, हानि पहुंचानेवालोंको चीर डालनेवाला हो जाता है, [द्रुहंतरः परशुः न] जैसे कि द्रोहियोंको चीर डालनेवाला कुल्हाड़ा होता है, [यस्य समृतौ बीळु चित् श्रुवत्] वह

[1]अथवा 'देखनेवाले मनुष्योंके लिये आवाहनका पुरोहित।'

जिससे कि टकराकर दृढ़ वस्तु भी भग्न हो जाती है, [यत् स्थिरं वना-इव] जहांतक कि जो अचल स्थिर है वह भी वृक्षोंकी तरह गिर जाता है; [निष्षहमाणः यमते] सबको अभिभव करता हुआ वह चला जाता है [न अयते] पीछे नहीं हटता, [धन्वासहा न अयते] धनुर्धारी योद्धा-की तरह वह कभी पीछे नहीं हटता।

(४)

दृह्ळा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे तेजिष्ठाभिररणिभिर्दाष्टचवसे ऽग्नये दाष्टचवसे।
प्र यः पुरूणि गाहते तक्षद् वनेव शोचिषा।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा॥

[दृह्ळा चित् अस्मै अनु दुः] दृढ़ वस्तुओंको भी वे इसके लिये देते हैं [यथा विदे] जैसे कि किसी ज्ञानीके लिये; [तेजिष्ठाभिः अरणिभिः] उसकी ज्वालामय शक्तिकी गतियोंके द्वारा [अवसे दाष्टि] संरक्षा पानेके लिये कोई देता है, [अग्नये अवसे दाष्टि] अग्निके लिये संरक्षा पानेको देता है। [यः पुरूणि प्र गाहते] जो अग्नि बहुतसी वस्तुओंके अन्दर प्रविष्ट होता है [शोचिषा वना इव तक्षत्] और अपने ज्वालामय प्रकाश द्वारा, वृक्षोंकी तरह, उन्हें घड़ता है, [स्थिरा चित् ओजसा नि रिणाति] अचल स्थिर वस्तुओंको भी वह अपने बलद्वारा विदीर्ण करता है और [स्थिराणि चित् ओजसा अन्ना नि] अचल स्थिर वस्तुओंको भी अपना भोजन बना लेता है।

(५)

तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि नक्तं यः सुदर्शतरो दिवातराद-प्रायुषे दिवातरात्।
आदस्यायुर्ग्रभणवद् वीळु शर्म न सूनवे।
भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा अग्नयो व्यन्तो अजराः॥

[अस्य तं पृक्षं उपरासु धीमहि] इसकी उस पूर्णताका हम उपरि-

स्तरोंमें ध्यान करते हैं,[1] [यः नक्तं दिवातरात् सुदर्शतरः] उस अग्निकी जो कि रात्रिमें दिनकी अपेक्षा अधिक सुदर्शनीय होता है, [अप्रायुषे दिवातरात्] उसके अविनाशी जीवनके लिये जो कि दिनकी अपेक्षा रात्रिमें अधिक होता है। [आत् अस्य आयुः ग्रभण वत्] तब उसका जीवन हमें ग्रहण करता और सहारा देता है [वीळु शर्म न सूनवे] जैसे एक दृढ़ शरण-गृह पुत्रके लिये होता है—[अजराः अग्नयः] कभी जीर्ण न होने-वाली अग्नियां [भक्तं अभक्तं अवः व्यन्तः] भोगे हुए और अभीतक न भोगे हुए सुखकी तरफ जाती हुईं, [अजराः व्यन्तः] अपनी अजर अग्नि-ओंको गति देती हुईं।

(६)

स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणि रप्नस्वतीषूर्वरा-
स्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः।
आदद्धव्यान्याददि र्यज्ञस्य केतुरर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् ॥

[स हि तुविष्वणिः] वह बहुत कोलाहलवाला है, [मारुतं शर्धः न] जैसे कि आंधी वर्षा की सेना[2], [अप्नस्वतीषु उर्वरासु इष्टनिः] हमारे परिश्रमसे युक्त उर्वरा भूमिओंपर वेगसे दौड़ती हुई, [आर्तनासु इष्टनिः] वंजर भमिओंपर वेगसे दौड़ती हुई। [आददिः हव्यानि आदत्] वह इन्हें ग्रहण करनेवाला हवियोंको खाता है, [यज्ञस्य अर्हणा केतु]: यज्ञका उसकी ठीक क्रियामें वह केतु है, अन्तर्ज्ञानका चक्षु है; [अध विश्वे नरः अस्य हर्ष्यतः हृषीवतः पन्थां जुषन्त स्म] इसलिये सब मनुष्य इस आनं-दित करनेवाले और आनन्दयुक्त अग्निके मार्गका हर्षके साथ सेवन करते हैं [शुभे पन्थां न] जैसे कि सुख की तरफ ले जानेवाले मार्गका।

---

[1]अथवा 'धारण करते हैं'।

[2]अथवा, गुह्य अर्थमें. 'प्राणशक्तियोंकी सेना, हमारी कृष्ट और हमारी वंजर भूमिओंपर उपजानेवाली वर्षाके साथ गति करती हुई।

(७)

द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो नमस्यन्त उपवोचन्त भृगवो
मथ्नन्तो दाशा भृगवः।
अग्निरीशे वसूनां शुचिर्यो धर्णिरेषाम्।
प्रियाँ अपिधींर्वनिषीष्ट मेधिर आ वनिषीष्ट मेधिरः॥

[यत् द्विता] जब कि इसकी द्विविध शक्तिमें, [कीस्तासः अभि द्यवः] कीर्त्तन करनेवाले और साथ ही प्रकाशसे युक्त, [नमस्यन्तः भृगवः] नमस्कार करते हुए भृगुगणने––ज्वालामय ऋषिओंने [ईं उप ओचन्त] इसको अपने वचन कहे, [दाशा मथ्नन्तः] जब उन्होंने इसे अपने दान-पूजनद्वारा मथा, [भृगवः] ज्वालामय ऋषिओंने, तो [अग्निः वसूनां ईशे] अग्नि ऐश्वर्योका अधिपति हो गया, [यः शुचिः ऐषां धर्णिः] जो कि पवित्र अग्नि इन्हें अपनेमें धारण करनेवाला है, [मेधिरः अपिधीन् वनिषीष्ट] मेधायुक्त वह अपनेपर रखी वस्तओंका उपभोग करता है [प्रियान्] और वे उसे प्रिय लगती हैं, [मेधिरः आ वनिषीष्ट] अपनी मेधामें, ज्ञानमें, वह उनका आनन्द लेता है।

(८)

विश्वासां त्वा बिशां पतिं हवामहे सर्वासां समानं दम्पतिं भुजे
सत्यगिर्वाहसं भुजे।
अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्या देवेष्वा वयः॥

[त्वा विश्वासां विशां पतिं हवामहे] तुझे सब प्रजाओंके पतिको हम पुकारते हैं, [सर्वासां समानं दम्पतिं] जो तू उपभोग करनके लिये उन सबका समान गृहपति है, [भुजे सत्यगिर्वाहसं] और उपभोग करनेके लिये सत्य वाणियोंको ले जानेवाला है––[मानुषाणां अतिथिं] जो तू मनुष्योंका अतिथि है, [यस्य आसया पितुः न अमी च विश्वे अमृतासः आ] जिसकी उपस्थितिमें, जैसे कि पिताकी उपस्थितिमें, ये सब

अमर देव भी आ जाते हैं [हव्याः वयः] और हमारी हवियोंको अपना भोजन बनाते हैं, [देवेषु वयः आ] देवों में वे (हवियां) उनका भोजन हो जाती हैं।

(९)

त्वमग्ने सहसा सहन्तमः शुष्मिन्तमो जायसे देवतातये
रयिर्न देवतातये।
शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः।
अध स्मा ते परि चरन्त्यजर श्रुष्टीवानो नाजर॥

[अग्ने त्वं सहसा सहन्तमः] हे अग्ने! तू अपने बलसे बलितम है, [देवतातये शुष्मिन्तमः जायसे] देवोंके निर्माणके लिये तू अत्यंत शक्तिशाली होकर उत्पन्न हुआ है, [देवतातये रयिः न] मानों देवोंके निर्माणके लिये तू ऐश्वर्य-रूप है; [ते मदः शुष्मिन्तमः हि] तेरा आनन्दोल्लास निःसंदेह अत्यंत शक्तिशाली है, [उत क्रतुः द्युम्निन्तमः] और तेरा संकल्प अत्यंत प्रकाशपूर्ण है। [अध ते परि चरन्ति स्म अजर] इसलिये वे तेरी सेवा करते हैं हे अजर अग्ने, [श्रुष्टीवानः न अजर] मानों तेरी वाणीको सुननेवाले वे तेरी सेवा करते हैं, हे अजर अग्ने!

(१०)

प्र वो महे सहसा सहस्वत उषर्बुधे पशुषे नाग्नये
स्तोमो बभूत्वग्नये।
प्रति यदीं हविष्मान् विश्वासु क्षासु जोगुवे।
अग्रे रेभो न जरत ऋषूणां जूर्णिर्होत ऋषूणाम्॥

[महे सहसा सहस्वते] महान्, अपने बलद्वारा बली [उषर्बुधे अग्नये] और उषामें जागनेवाले अग्निके लिये, [पशुषे न] जैसे किसी दर्शन-शक्तिवालेके लिये, [वः स्तोमः प्र बभूतु] तुम्हारा स्तोत्र प्रकृष्टतासे होवे। [यत् ईं] जब कि [हविष्मान्] हविको देनेवाला [विश्वासु क्षासु] सब

भूमिकाओंमें [प्रति जोगुवे] उसके प्रति पुकारता है, [ऋषूणां अग्ने] तो ज्ञानिओंके सम्मुख वह [रेभः न] जैसे कि कोई बन्दी (स्तोत्रगायक) [जरते] हमारे स्तोत्र गाता है, [ऋषूणां होता जूर्णिः] ज्ञानियोंका वह होता, आवाहन-पुरोहित, जो कि उनके स्तोत्र गानेवाला है।

(११)

स नो नेदिष्ठं ददृशान आ भरा ग्ने देवेभिः
सचनाः सुचेतुना महो रायः सुचेतुना।
महि शविष्ठ नस्कृधि संचक्षे भुजे अस्यै।
महि स्तोतृभ्यो मघवन् त्सुवीर्यं मथीरुग्रो न शवसा॥

[सः ददृशानः] अब दृश्यमान होता हुआ वह तू [अग्ने] हे **अग्ने**! [देवेभिः सचनाः] उन धनोंको जो कि सदा **देवों**के साथ रहते हैं [सुचेतुना] अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा [नः नेदिष्टं आ भर] हमारे अत्यंत समीप ले आ, [महः रायः सुचेतुना] उन **महान् धनों**को अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा। [शविष्ठ] हे अत्यंत बलिन् **अग्ने**! [नः महि कृधिः] हमारे लिये जो महान् है उसे रच [सं चक्षे अस्मै भुजें] हमारे दर्शनके लिये, इस पृथ्वीके उपभोगके लिये; [स्तोतृभ्यः] अपने स्तोताओंके लिये, [मघवन्] हे ऐश्वर्यके अधिपति! [महि सुवीर्यं मथीः] तू महान् वीरत्व-बलको मथ निकाल [उग्रः न शवसा] जैसे कि कोई उग्र बली अपने बलसे युक्त हुआ हुआ करता है।

गृत्समद ऋषिके आग्नेय सूक्त

मंडल २, सूक्त १

(१)

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणि स्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्य स्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥

[त्वम् अग्ने] तू हे **अग्नि**! [द्युभिः] दीप्तियोंके साथ पैदा होता है, [त्वम् आशुशुक्षणिः] तू अपने तेजसे हमपर चमकता है; [त्वम् अद्भ्यः] तू जलोंके अंदरसे पैदा होता है, [त्वम् अश्मनः परि] तू पत्थरके चारों ओर पैदा होता है, [त्वं वनेभ्यः, त्वम् ओषधीभ्यः] तू वनोंसे और तू पृथ्वीके पौधोंसे पैदा होता है। [त्वं नृणां नृपते] तू हे मनुष्यके और मानवजातिके संरक्षक! [शुचिः जायसे] जन्मसे पवित्र है।

(२)

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥

[तव अग्ने होत्रम्] तेरे ही हे **अग्नि**! आह्वान और हवि हैं, [तव पोत्रम् ऋत्वियम्] तेरा ही पवित्रीकरण और यज्ञ-विधान है, [तव नेष्ट्रम्] तेरा ही शोधन है, [त्वम् अग्निद् ऋतायतः] तू सत्यके अन्वेष्टा-के लिये अग्न्याहर्ता है। [तव प्रशास्त्रम्] प्रशासन तेरा ही है, [त्वम् अध्वरीयसि] तू यात्राविधि बनता है[1] [ब्रह्मा च असि] तू **शब्द**का ऋत्विज् है [गृहपतिः च नः दमे] और हमारे घरमें गृहपति है।

(३)

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या॥

[त्वम् अग्ने इन्द्रः असि] हे **अग्नि**! तू इन्द्र है जो कि [वृषभः सताम् असि] सब सत्ताधारियोंका **बैल** है, [त्वं विष्णुः उरुगायः] तू विशाल गतिवाला[2] **विष्णु** है, [नमस्यः] नमस्कारद्वारा पूजनीय है। [ब्रह्मणस्पते] ऐ **शब्द**के अधिपति! [त्वं ब्रह्मा] तू ब्रह्मा है [रयिवित्]

---

[1]या तू यात्रा-कर्मका पुरोहित है।

[2]या, विशाल रूपसे गाया हुआ।

ऐश्वर्योंका अधिगन्ता है; [विधर्तः] हे प्रत्येकके तथा सबके विधारयिता अग्नि! [त्वं पुरंध्या सचसे] तू अनेक विचारोंकी देवी[1]का अंतरंग साथी है।

(४)

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥

[त्वम् अग्ने राजा वरुणः] तू ही हे अग्नि! वह वरुण राजा है जो [धृतव्रतः] सब क्रियाओंके नियमको अपने हाथोंमें लिये है, [त्वं मित्रः भवसि] तू ही **मित्र** होता है, जो कि [दस्मः] सशक्त तथा [ईड्यः] वांछनीय देव है। [त्वम् अर्यमा] तू ही वह **अर्यमा** है जो कि [सत्पतिः] सत्ताधारियोंका पति है [यस्य संभुजम्] और जिसके साथ पूर्ण आनंद है; [त्वं देव] तू हे देव! [अंशः] **अंश** है [विदथे भाजयुः] जो कि ज्ञानकी विजयमें हमें हमारा भाग प्रदान करता है।

(५)

त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ग्नावो मित्रमहः सजात्यम्।
त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्यं त्वं नरां शर्धो असि पुरूवसुः॥

[त्वम् अग्ने त्वष्टा] तू हे अग्नि! **त्वष्टा** है, और तू [विधते सुवीर्यम्] अपने पूजकके लिये शक्ति की परिपूर्णताको रचता है; [तव] तेरी ही हैं [मित्रमहः] हे मित्रभूत ज्योति! [ग्नावः] शक्तिकी देवियां और [सजात्यम्] है सब स्वाभाविक सजातीयता। [त्वम् आशु-हेमा] तू तीव्र प्लुतगतिवाला है और [स्वश्व्यं ररिषे] तू **घोड़े**की उत्तम शक्ति प्रदान करता है; [त्वं नरां शर्धः] तू देवों का सैन्य है और [पुरूवसुः असि] तू प्रचुर ऐश्वर्यवाला है।

---

[1]या, पुरकी अधिष्ठात्री देवी।

(६)

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिव स्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
त्वं वातैररुणैर्यासि शंगय स्त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना॥

[त्वम् अग्ने] तू हे **अग्नि**! रुद्र है जो कि [महः दिवः] महान् द्यौका [असुरः रुद्रः] शक्तिशाली देव है और [त्वं मारुतं शर्धः] तू जीवनके देवोंका सैन्य है और तू [पृक्षः ईशिषे] सब तृप्तिप्रदाताओं-का प्रभु होता है। [त्वयं अरुणैः वातैः यासि] तू अरुणवर्णकी वायुओं-को साथ लेकर यात्रा करता है [शंगयः] और तेरा घर आनन्दका है; [त्वं पूषा] तू **पूषा** है, और तू [त्मना] स्वयं अपने आपसे [विधतः] अपने पूजकोंकी [पासि] रक्षा करता है।

(७)

त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्तेऽविधत्॥

[त्वम् अग्ने] तू हे **अग्नि**! [अरंकृते] उसे जो अपने कर्मोंको सज्जित तथा पर्याप्त बनाता है [द्रविणोदाः] खजाना दे देनेवाला है; [त्वं देवः सविता] तू दिव्य **सविता** है और [रत्नधा असि] आनन्दका प्रतिष्ठापक है। [त्वं नृपते] तू हे मनुष्यके संरक्षक! [भगः] **भग** है और [वस्वः ईशिषे] ऐश्वर्योंका प्रभु है; [त्वं दमे पायुः] तू घर-के अन्दर संरक्षक होता है [यः ते अविधत्] उसका जो कि अपने कर्मों-से तेरी पूजा करता है।

(८)

त्वामग्ने दम आ विश्पतिं विश स्त्वां राजानं सुविदत्रमृञ्जते।
त्वं विश्वानि स्वनीक पत्यसे त्वं सहस्राणि शता दश प्रति॥

[दमे] अपने घरमें [विश्पतिं त्वां] मानवके अधिपति तुझे, तेरे प्रति [अग्ने] हे अग्नि! [विशः] मनुष्य [आ] अभिमुख होते हैं,

[सुविदत्रं राजानं त्वाम्] पूर्ण ज्ञानवाले तुझ राजाको, [ऋञ्जते] वे राज्याभिषिक्त करते हैं। [स्वनीक] ओ अग्निकी ज्वलन्त शक्ति! [त्वं विश्वानि पत्यसे] तू सब वस्तुओंकी अधिपति है, [त्वं सहस्राणि शता दश प्रति] तू हजारों, सैकड़ों और दसोंके प्रति गति करती है।

(९)

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नर स्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः॥

[त्वाम् अग्ने] तुझे हे **अग्नि**! [पितरम्] पिताके रूपमें [इष्टि-भिः] अपने यज्ञोंके द्वारा [नरः] मनुष्य (पूजते हैं), और वे [तनूरुचं त्वाम्] शरीरको प्रकाशसे चमका देनेवाले तुझे [शम्या] अपने कर्मों-के द्वारा (पूजते हैं) [भ्रात्राय] जिससे कि तू उनका भाई बन सके। [त्वं पुत्रः भवसि] तू पुत्र हो जाता है [यः ते अविधत्] उसका जो तेरी पूजा करता है; [त्वं सुशेवः सखा] तू उसका सुखमय सखा हो जाता है और [आधृषः] शत्रुकी हिंसासे [पासि] उसकी रक्षा करता है।

(१०)

त्वमग्न ऋभुराके नमस्य स्त्वं वाजस्य क्षुमतो राय ईशिषे।
त्वं वि भास्यनु दक्षि दावने त्वं विशिक्षुरसि यज्ञमातनिः॥

[त्वम् अग्ने] तू हे **अग्नि**! [ऋभुः] ऋभु शिल्पी है, [आके] हमारे समीप है और [नमस्यः] समर्पणके नमनद्वारा पूजन करने योग्य है; [त्वं] तू [वाजस्य क्षुमतः] प्रचुर समृद्धियोंके खजानेका और [रायः] ऐश्वर्योंका [ईशिषे] प्रभु है, [त्वम्] तू [दावने] अपने खजानेको प्रदान करनेके लिये ही [विभासि) विपुल चमकसे चमकाता है और [अनुदक्षि] पुनः प्रज्वलित होता है, [त्वं विशिक्षुः असि] तू हमारा ज्ञान-शिक्षक है और [यज्ञम्-आतनिः] हमारा यज्ञका निर्माता है।

(११)

त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा।
त्वमिळा शतहिमासि दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती ॥

[देव अग्ने] हे दिव्य **अग्नि**! [दाशुषे] हवि देनेवालेके लिये [त्वम् अदितिः] तू **अदिति** है, अखण्डनीय **माता** है; [त्वं भारती] तू **भारती** है, [होत्रा] हविकी वाणी है, [वर्धसे गिरा] और तू **शब्दसे** प्रवृद्ध होता है। [त्वं शतहिमा इडा असि] तू सौ हेमन्तोंवाली **इडा** है [दक्षसे] जो कि विवेचन-समर्थ है; [वसुषते] ओ खजानेके अधि-पति! [त्वं सरस्वती] तू **सरस्वती** है, जो कि तू [वृत्रहा] वृत्र-शत्रुको विनष्ट कर देता है।

(१२)

त्वमग्ने सुभृत उत्तमं वय स्तव स्पार्हे वर्ण आ संदृशि श्रियः।
त्वं वाजः प्रतरणो बृहन्नसि त्वं रयिर्बहुलो विश्वतस्पृथुः ॥

[अग्ने] हे **अग्नि**! [त्वं सुभृतः] जब तू हमसे सम्यक्‌तया धारण कर लिया जाता है तब तू [उत्तमं वयः] हमारी सत्ताकी सर्वोत्तम वृद्धि तथा विस्तार बन जाता है, [श्रियः] सब शोभायें और सौन्दर्य [तव स्पार्हे वर्णे] तेरे स्पृहणीय वर्णमें और [सन्दृशि] पूर्ण दर्शन में ही हैं। [बृहन्] ओ विस्तारमय! [त्वं वाजः असि] तू वह समृद्धि है जो कि [प्रतरणः] हमें हमारे मार्गके अन्ततक ले जाती, पहुंचाती है; [त्वं बहुलः रयिः] तू वह विपुल ऐश्वर्य है जो [विश्वतः पृथुः] सब ओर फैला हुआ है।

(१३)

त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे।
त्वां रातिषाचो अध्वरेषु सश्चिरे त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् ॥

[त्वाम् अग्ने] तुझे हे अग्नि! [आदित्यासः] अखण्डनीय **माता,**

अदितिके पुत्रोंने [आस्यं चक्रिरे] मुख बनाया है, [शुचयः] पवित्र देवोंने [त्वां जिह्वा चक्रिरे] तुझे जिह्वा बनाया है; [कवे] हे द्रष्टा ! [रातिषाच्चः] वे जो कि हमारे हवि-दानसे सदा संयुक्त होते हैं [अध्व-रेषु] दिव्य **मार्ग**के कर्मा में [त्वां सश्चिरे] तेरे साथ नित्य साथ रहते हैं; [देवाः] देव [त्वे] तुझमें ही [आहुतं हविः] अपने सम्मुख डाली हुई हविको [अदन्ति] खाते हैं।

(१४)

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम् ।
त्वया मर्तासः स्वदन्त आसुतिं त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः ॥

[अग्ने] हे **अग्नि** ! [त्वे] तुझमें ही [विश्वे अमृतासः देवाः] सब अमर देव [अद्रुहः] जो कि मनुष्यके लिये हानिप्रद नहीं हैं [आसा] तेरे मुखद्वारा [आहुतं हविः अदन्ति] अपने सम्मुख डाली हुई हविको खाते है; [त्वया] तेरे द्वारा [मर्तासः] मरणधर्मा मनुष्य [आसुतिं स्व-दन्त] सोमपानका आस्वादन करते हैं। [वीरुधां गर्भः त्वम्] पौधोंका पुत्र तू [शुचिः जज्ञिषे] पवित्र पैदा हुआ है।

(१५)

त्वं तान् त्सं च प्रति चासि मज्मना ऽग्ने सुजात प्र च देव रिच्यसे ।
पृक्षो यदत्र महिना वि ते भुव दनु द्यावापृथिवी रोदसी उभे ॥

[सुजात अग्ने] हे पूर्ण जन्मको प्राप्त **अग्नि** ! [त्वं तान् सम् असि] तू उन देवोंके साथ होता है [प्रति च असि मज्मना] और अपनी शक्ति-में भरकर तू उनके सम्मुख आता है, [प्र रिच्यसे च] और तू उनसे आगे भी निकल जाता है; [देव] हे देव ! [यत् अत्र] जब कि यहां [पृक्षः] तेरी तृप्तिप्रद परिपूर्णता [महिना] अपनी महत्ताके साथ [उभे रोदसी द्यावापृथिवी अनु] दोनों लोकों, द्यौ और पृथिवी, पर [वि भुवत्] व्याप जाती है।

(१६)

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशस मग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः।
अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद वदेम विदथे सुवीराः ॥

[अग्ने] हे **अग्नि**! जब [स्तोतृभ्यः] उनके लिये जो तेरा स्तुति-गान करते हैं [सूरयः] प्रकाशयुक्त विद्वान् [रातिम् उपसृजन्ति] तेरी उस देनको बरसाते हैं [गो अग्राम्] जिसके अग्रभाग में **किरण-रूपी गाय** चलती है और [अश्वपेशसम्] जिसका रूप **घोड़े**का है, तव तू [अस्मान् च तान् च] हमें और उनको [वस्यः प्र आनेषि] उस लोकमें ले आता है जो महत्तर ऐश्वर्योका है। [सुवीराः] वीरोंके बलसे सवल हुए हुए हम [विदथे] ज्ञानके आगमनपर [बृहद् वदेम] **बृहत्**का उदीरण कर सकें, कीर्त्तन कर सकें।

मंडल २, सूक्त २.

(१)

यज्ञेन वर्धत जातवेदस मग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा।
समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम् ॥

[यज्ञेन] अपने यज्ञके द्वारा [जातवेदसं अग्निम्] उस अग्निको जो कि सब वस्तुओंको जानता है [वर्धत] बढ़ाओ; [यजध्वं] उसकी पूजा करो [हविषा] अपनी हविद्वारा, [तना] अपने शरीरद्वारा [गिरा] और अपनी वाणीद्वारा। पूजा करो [समिधानम्] प्रदीप्त होते हुए अग्निकी [सुप्रयसम्] जो दृढ़ आनंदोंसे युक्त है, [स्वर्णरम्] जो सूर्य-लोकका पुरुष है [होतारम्] जो **आवाहन** का पुरोहित है, [द्युक्षम्] जो **द्यौ**का वासी है[1] [वृजनेषु धूर्षदम्] और जो हमारे युद्धोंमें रथके धुरेपर बैठनेवाला है।

---

[1]अथवा, जो **प्रकाश**में निवास करनेवाला है।

(२)

अभि त्वा नक्तीरुषसो ववाशिरे ऽग्ने वत्सं न स्वसरेषु धेनवः।
दिव इवेदरतिर्मानुषा युगा क्षपो भासि पुरुवार संयतः॥

[नक्तीः उषसः] रात्रियां और उषाएं [त्वा अभि ववाशिरे] तेरे प्रति शब्द करती है, रंभाती हैं [न] जैसे [स्वसरेषु] अपने विश्राम-गृहोंमें [धेनवः] दुधा गौएं [वत्सं] अपने बछड़ेके प्रति। [पुरुवार अग्ने] हे अनेक वरोंवाले अग्नि! तू [मानुषा युगा] मानव के युगोंमें [दिवः इवेत् अरतिः] द्युलोकका यात्री है, और तू [संयतः] संयत होकर [क्षपः भासि] उसकी रात्रियोंके बीचमें प्रकाशित होता है[1]।

(३)

तं देवा बुध्ने रजसः सुदंससं दिवस्पृथिव्योररतिं न्येरिरे।
रथमिव वेद्यं शुक्रशोचिष मग्निं मित्रं न क्षितिषु प्रशंस्यम्॥

[देवाः] देवोंने [तं सुदंससम्] उस महान् कर्मकर्ता तथा [दिवस्पृथिव्योः अरतिम् अग्निम्] द्यौ और पृथिवीके यात्री अग्निको [रजसः बुध्ने] मध्य-लोकके आधार-स्थलमें [न्येरिरे] प्रेरित किया, पहुंचा दिया है [शुक्रशोचिषं रथमिव] इस तरह जैसे कि वह हमारा शुभ्र ज्वालाओं-वाला एक रथ है, [वेद्यम्] जिसका जानना हमारे लिये आवश्यक है, और जो [क्षितिषु] मनुष्योंके बीचमें [मित्रं न] एक मित्रकी तरह [प्रशंस्यम्] हमसे स्तुतिपूर्वक कीर्तन करने योग्य है।

(४)

तमुक्षमाणं रजसि स्व आ दमे चन्द्रमिव सुरुचं ह्वार आ दधुः।
पृश्न्याः पतरं चितयन्तमक्षभिः पाथो न पायुं जनसी उभे अनु॥

[रजसि] मध्य-लोकमें और [स्वे दमे] अपने निज घरमें [उक्ष-

---

[1]या, संयत होकर तू उसकी रात्रियोंको चमका देता है, प्रकाशित कर देता है।

माणं] वर्षा करते हुए [चन्द्रमिव सुरुचम्] सुवर्णकी तरह प्रकाशकी कान्तिसे युक्त[1] [तम्] उसको [ह्वारे आ दधुः] उन्होंने कुटिलताके बीचमें निहित कर दिया है, उसको [पृश्न्याः पतरम्] जो कि चितकबरी माताका संरक्षक है, [अक्षभिः चितयन्तम्] जो अपनी दर्शनकी आंखोंसे हमें ज्ञानकी जागृति देनेवाला है, और जो [उभे जनसी अनु] दोनों जन्मोंमें [पाथः पायुं न] हमारे पथका रक्षकवत् है।

(५)

स होता विश्वं परि भूत्वध्वरं तमु हव्यैर्मनुष ऋञ्जते गिरा।
हिरिशिप्रो वृधसानासु जर्भुरद् द्यौ र्न स्तृभिश्चितयद् रोदसी अनु॥

[स] वह अग्नि [होता] हमारा आवाहनका पुरोहित बन जाये, [विश्वं अध्वरं परिभूतु] प्रत्येक यात्रा-कर्मके चारों ओर व्याप जाये; [तमु] उसे [मनुष :] मनुष्य [गिरा] वाणीसे तथा [हव्यैः] हवियोंसे [ऋञ्जते]अभिषिक्त करते हैं। [हिरिशिपुः] स्वर्णज्योतिके अपने मुकुटको पहने हुए वह [वृधसानासु] अपनी वृद्धिगत ज्वालाओंमें [जर्भुरत्] क्रीडा करेगा; [स्तृभिः द्यौः न] नक्षत्रों सहित द्यौ लोककी तरह वह [उभे रोदसी अनु] दोनों विधारक लोकोंमें [चितयत्] हमें हमारे पथको दिखायगा, चेतायगा।

(६)

स नो रेवत् समिधानः स्वस्तये संददस्वान् रयिमस्मासु दीदिहि।
आ नः कृणुष्व सुविताय रोदसी अग्ने हव्या मनुषो देव वीतये॥

[अग्ने] हे अग्नि! [स्वस्तये] हमारी शांतिके लिये [रेवत् समिधानः] प्रचुरताके साथ प्रदीप्त होता हुआ तू [अस्मासु दीदिहि] हमारे अंदर अपनी ज्योतिको ऊंचा उठा और [रयिं संददस्वान्] अपने ऐश्वर्यो-

---

[1]या, उस [चन्द्रमिव] एक ऐसी आनंदकी वस्तुकी तरह जो कि [सुरुचम्] उज्ज्वल कांतिसे युक्त है।

के दानको ला। [रोदसी] पृथिवी और द्यौको [नः सुविताय कृणुष्व] हमारी सुखमय यात्राके मार्ग बना दे और [देव] हे देव! [मनुषः हव्या] मनुष्यकी हवियोंको [वीतये कृणुष्व] देवोंके आगमनका साधन बना दे।

(७)

दा नो अग्ने बृहतो दाः सहस्रिणो दुरो न वाजं श्रुत्या अपा वृधि।
प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि स्वर्ण शुक्रमुषसो वि दिद्युतुः॥

(अग्ने) हे अग्नि! (नः बृहतः दाः) तू हमें विस्तृत ऐश्वर्य प्रदान कर, (सहस्रिणः दाः) सहस्रगुणित ऐश्वर्य प्रदान कर; (श्रुत्यै) अंतर्ज्ञानके लिये (वाजं) ऐश्वर्यको (दुरः न) दरवाजोंकी तरहसे (अपावृधि) खोल दे; (द्यावापृथिवी) पृथिवी और द्यौको (ब्रह्मणा) **शब्द**के द्वारा (प्राची कृधि) **पर**के उन्मुख कर दे। (उषसः विदिद्युतुः) **उषायें** देदीप्यमान हो उठी हैं (शुक्रं स्वः न) मानो उज्वल **सूर्य**लोक जगमगा उठा हो।

(८)

स इधान उषसो राम्या अनु स्वर्ण दीदेदरुषेण भानुना।
होत्राभिरग्निर्मनुषः स्वध्वरो राजा विशामतिथिश्चारुरायवे॥

(राम्या उषसः अनु इधानः सः) रमणीय उषाओंके प्रवर्तनके साथ प्रदीप्त हुआ हुआ वह (स्वः न) सूर्यलोककी तरह (अरुषेण भानुना दीदेत्) अरुण कान्तिसे जगमगा उठेगा। हे अग्नि! (मनुषः होत्राभिः) मनुष्यकी यज्ञ-वाणियोंद्वारा (स्वध्वरः) यात्रा-कर्मको फलोत्पादक बनाता हुआ तू (विशां राजा) प्रजाओंका **राजा** है, और (आयवे चारुः अतिथिः) मनुष्यके लिये आनंदप्रद अतिथि है।

(९)

एवा नो अग्ने अमृतेषु पूर्व्य धीष्पीपाय बृहद्दिवेषु मानुषा।
दुहाना धेनुर्वृजनेषु कारवे त्मना शतिनं पुरुरूपमिषणि॥

(एव) इसी प्रकार (पूर्व्य अग्ने) हे प्राचीन अग्नि ! (धीः) **विचार**ने (नः मानुषा) हमारी मर्त्य वस्तुओंको (बृहद्दिवेषु) बृहत् द्यु-लोकोंमें, (अमृतेषु) अमृतोंमे (पीपाय) पालित-पोषित किया है। वह **विचार** (धेनुः) हमारी दुधार गाय है, वह (कारवे) कर्मोके कर्ताके लिये (वृजनेषु) उसके युद्धोमें तथा (इषणि) उसकी यात्रा-गतिमें (त्मना) स्वयं (पुरुरूपं) अनेक रूपोंवाले और (शतिनम) सैकड़ों खजानोंको (दुहाना) दुह देती है।

(१०)

वयमग्ने अर्वता वा सुवीर्यं ब्रह्मणा वा चितयेमा जनाँ अति।
अस्माकं द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषू च्चा स्वर्ण शुशुचीत दुष्टरम् ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (वयम्) हम (वा) या तो (अर्वता) **युद्ध**के **घोड़े**द्वारा (सुवीर्यम्) वीरोचित शक्तिको जीत लेवें (वा) अथवा (ब्र-ह्मणा) **शब्द**द्वारा (जनान् अति) मनुष्योंसे परे जाकर (चितयेम) ज्ञान-में जागृत हो जायें[1]; (अस्माकं द्युम्नम्) हमारी ज्योति (उच्चा) उच्च होकर तथा (स्वः न दुष्टरम्) सूर्य-लोककी तरह अदम्य होकर (पञ्च-कृष्टिषु) **पांचों जातियों**के अदर (शुशुचीत) चमक उठे।

(११)

स नो बोधि सहस्य प्रशंस्यो यस्मिन् त्सुजाता इषयन्त सूरयः।
यमग्ने यज्ञमुपयन्ति वाजिनो नित्ये तोके दीदिवांसं स्वे दमे ॥

(सहस्य) हे शक्तिमान् अग्नि ! (नः प्रशंस्यः) हमारी प्रशस्तियों-द्वारा स्तुत किया जानेवाला तू (बोधि) जागृत हो जा; क्योंकि तू [स] वह है [यस्मिन्] जिसके अंदर [सूरयः] प्रकाशमान द्रष्टा [सुजाताः] पूर्ण जन्मको प्राप्त कर लेते है और (इषयन्त) अपने मार्गपर

---

[1]अथवा, (अर्वता वा ब्रह्मणा वा) **युद्ध**के **घोड़े**की शक्तिद्वारा या **शब्द**द्वारा (वयं) हम (सुवीर्य चितयेम) अपन अंदर वीरोचित शक्ति-को जागृत कर लेवें, जो कि (जनान् अति) मनुष्योंके क्षेत्रसे परे है।

सर्वेग अग्रसर हो जाते हैं। (अग्ने) हे अग्नि! (यं यज्ञं) जो तू यज्ञ-रूप है उस तेरे पास (वाजिनः) तीव्रताके घोड़े वहां (उपयन्ति) पहुंचते हैं, जहां कि तू (नित्ये तोके) नित्य पुत्रमें और (स्वे दमे) अपने निजी घरमें (दीदिवांसम्) दीप्तिके साथ चमक रहा होता है।

(१२)

उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि।
वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शग्धि नः॥

(अग्ने) हे अग्नि! (जातवेदः) हे सब उत्पन्न वस्तुओंको जानने-वाले देव! (उभयासः) हम दोनों ही (ते शर्मणि स्याम) तेरी शांति-में निवास करें, (स्तोतारः सूरयः च) वे जो कि तेरे स्तोता है तथा जा प्रकाशमान द्रष्टा है। (नः) हमें (भूयसः रायः) बहुतसी समृ-द्धियोंसे युक्त (पुरुश्चन्द्रस्य) अनेक आनंदोंसे युक्त (प्रजावतः) प्रजाओं-से युक्त (स्वपत्यस्य) सन्तानोंसे युवत (वस्वः) खजानेको प्राप्त कराने-के लिये (शग्धि) तू शक्तिमान् हो।

(१३)

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशस मग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः।
अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद् वदेम विदथे सुवीराः॥

(अग्ने) हे अग्नि! जब (स्तोतृभ्यः) उनके लिये जो कि तेरी स्तुति करते है (सूरयः) प्रकाशमान द्रष्टा (रातिम् उपसृजन्ति) उस दानको मुंक्त करते हैं (गोअग्राम्) जिसके आगे आगे किरण-रूपी गाय चलती है तथा (अश्वपेशसम्) जिसका रूप घोड़का है, तब तू (अस्मान् च तान् च) हमें और उनको भी (वस्यः प्र नेषि) उस लोकमें पहुंचा देता है जो कि प्रचुर ऐश्वर्योका है। ऐसी कृपा कर कि (सुवीराः) वीरोंकी शक्तिसे सवल हुए-हुए हम (विदथे) ज्ञानके आगमनपर (बृहत् वदेम) बृहत् का उदीरण कर सकें. कीर्त्तन कर सकें।

शारीरिक शिक्षणपत्रिकासे—

मानव एकता का आदर्श

(श्रीअरविंद)

ग्यारहवां अध्याय

छोटी स्वतंत्र इकाई और बृहत्तर केंद्रित इकाई

यदि हम राजनीतिक, प्रशासनीय और आर्थिक प्रणाली के आधार पर मनुष्यजाति के एकीकरण की संभावनाओं पर विचार करें तो हम देखेंगे कि एक विशेष प्रकार की एकता या उसकी ओर उठाया हुआ पहला कदम केवल संभव ही नहीं प्रतीत होता वरन् जाति की आवश्यकता और उसकी आधारभूत भावना थोड़े वहुत अनिवार्य रूप में उस एकता की मांग भी करती हैं। यह भावना अधिकांश रूप में पारस्परिक ज्ञान तथा संचार-साधनों की वृद्धि के कारण परंतु आंशिक रूप में जाति के प्रगतिशील मन में अधिक व्यापक और स्वतंत्र बौद्धिक आदर्शों तथा भावप्रधान समवेदनाओं के उन्नत होने के कारण उत्पन्न हुई है। इस आवश्यकता का अनुभव भी कुछ तो इन आदर्शों और समवेदनाओं को पूरा करने की इच्छा के कारण तथा कुछ उन आर्थिक और अन्य भौतिक परिवर्तनों के कारण होता है जो विभाजित राष्ट्रीय जीवन, युद्ध, व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा के और इनके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली अरक्षा तथा जटिल और सुभेद्य आधुनिक सामाजिक संगठन पर आनेवाली विपत्ति के परिणामों को आर्थिक और राजनीतिक मानवप्राणी और आदर्शवादी विचारक दोनों के लिये अधिकाधिक दुःखदायी बना देते हैं। कुछ अंश में यह नई प्रवृत्ति सफल राष्ट्रों की शेष जगत् को निर्विघ्न रूप से हस्तगत करने, उसका उपभोग

करने तथा उससे अनुचित लाभ उठाने की इच्छा से भी उत्पन्न हुई है और इस इच्छा को वे अपनी प्रतिद्वंद्विताओं तथा प्रतियोगिताओं से उत्पन्न खतरे को उठाये बिना किमी पारस्परिक सुखद सद्भाव और समझौते के द्वारा पूर्ण करना चाहते हैं; इस प्रवृत्ति की वास्तविक शक्ति उसके बौद्धिक, भावुक और आदर्शवादी अंगों में है। इसके आर्थिक कारण कुछ अंश में स्थायी हैं और इसलिये शक्ति और निश्चित सफलता के तत्त्व हैं, और जिस अंश में वे कृत्रिम तथा अस्थायी हैं उस अंश में अरक्षा और दुर्बलता को उत्पन्न करते हैं। राजनीतिक आशय इस मिश्रण के निम्नतर भाग हैं, यहां तक कि इनकी उपस्थिति सारे परिणाम को बिगाड़ सकती है तथा अंत में उस एकता को जो प्रारंभिक रूप में प्राप्त की जा चुकी है निश्चित रूप से उलट-पलट या नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है।

फिर भी अपेक्षाकृत निकट या अधिक सुदूर भविष्य में कोई न कोई परिणाम निकल सकता है। अब हम देख सकते हैं कि इसे यदि चरितार्थ होना है तो किन अवस्थाओं में होना है—शुरू शुरू में यह अत्यंत प्रवल सामान्य आवश्यकताओं अर्थात् व्यापार, शांति और युद्ध की व्यवस्थाओं तथा झगड़ों के सामान्य निर्णय और संसार को सुरक्षित रखने की व्यवस्थाओं के लिये एक प्रकार के समझौते और प्रारंभिक मेल-मिलाप द्वारा चरितार्थ हो सकती है। ये सब स्थूल प्रारंभिक व्यवस्थाएं यदि एक बार स्वीकार कर ली जायं तो स्वभावतः ही वे प्रधान विचार और सहज आवश्यकता के दवाव से एक अधिक प्रगाढ़ एकता का रूप धारण कर लेंगी; यह भी हो सकता है कि अंत में जाकर वे एक ऐसे सर्व-सामान्य सर्वोच्च राज्य के रूप में विकसित हो जायं जो तब तक टिक सकता है जब तक स्थापित प्रणाली के दोषों और इसके अस्तित्व के विरोधी अन्य आदर्शों और प्रवृत्तियों के उदय के परिणाम-स्वरूप इसमें एक नया आमूल परिवर्तन ही नहीं आ जाता या यह पूरी तरह से अपने स्वाभाविक तत्त्वों और अंगों में खंडित ही नही हो जाता। हमने यह भी देख लिया है कि इस प्रकार की एकता वर्तमान

जगत् की ऐसी अवस्थाओं के आधार पर प्राप्त की जा सकती है जो कुछ अंश तक अवश्यंभावी परिवर्तनों से बदल दी गई हैं—उन अंतर्राष्ट्रीय परिवर्तनों से, जो एक नया मौलिक सिद्धांत चलाने के स्थान पर केवल पुनर्व्यवस्थामात्र करते प्रतीत होते हैं और राष्ट्रों के भीतर होनेवाले उन सामाजिक परिवर्तनों से, जिनका प्रभाव दूर तक पहुंचता है। अर्थात्, यह एकता उसी प्रकार की होगी जैसी वर्तमान समय के स्वतंत्र राष्ट्रों और उपनिवेश बनानेवाले साम्राज्यों के बीच में होती है पर इसके साथ समाज की एक ऐसी आंतरिक व्यवस्था तथा प्रशासनीय योजना होगी जो वेग से राज्य के कठोर समाजवाद और समानता की ओर बढ़ेगी; इनसे स्त्री-जाति और श्रमिकों का विशेष हित होगा क्योंकि ये इस समय की प्रमुख प्रवृत्तियां हैं। निश्चय ही यह कोई भी विश्वासपूर्वक पहले से नहीं कह सकता कि इस समय की प्रवृत्ति संपूर्ण भविष्य पर सफलतापूर्वक अपना अधिकार जमा लेगी। हम नहीं जानते कि इस महान् मानवी नाटक के कौन कौन से आश्चर्य, पुराने राष्ट्र-विचार की कौनसी उद्दाम तरंग, क्या क्या संघर्ष, कौन कौनसी असफलताएं, नई समाजिक प्रवृत्तियों के कार्यान्वित होने में कौन कौनसे अप्रत्याशित परिणाम, बोझिल और यांत्रिक राज्य-समष्टिवाद के विरोध में मानवी भावना का कौनसा विद्रोह, दार्शनिक अराजकतावाद के ऐसे सिद्धांत की कौनसी प्रगति और शक्ति जिसका कार्य ही मनुष्य की वैयक्तिक स्वाधीनता और स्वतंत्र आत्म-परिपूर्णतासंबंधी सुदृढ़ आकांक्षा की परिपुष्टि करना है, कौन कौनसे धार्मिक और आध्यात्मिक महान् परिवर्तन मनुष्यजाति की इस वर्तमान गतिविधि में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और इसे एक और प्रकार की घटना में नहीं बदल देंगे। मानव मन अभी प्रकाश या उस निश्चित विज्ञान तक नहीं पहुंचा है जिसके द्वारा वह अगले दिन के विषय में भी कुछ ठीक ठीक बता सके।

फिर भी, हम यह मान लेते हैं कि इस प्रकार की कोई भी अप्रत्याशित बात नहीं होगी और तब मनुष्यजाति की किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक एकता चरितार्थ की जा सकेगी। पर एक प्रश्न फिर भी

बाकी रह जाता है कि क्या यह वांछनीय है कि यह एकता इस प्रकार से और अभी प्राप्त की जानी चाहिये और यदि ऐसा हो तो किन परिस्थितियों में तथा किन आवश्यक शर्तों के साथ इसे प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि इनके बिना जिस एकता की प्राप्ति होगी वह मानवजाति के पुराने और अपूर्ण ऐक्यों ही के समान अस्थायी होगी। पहले हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जिन बृहत्तर एकताओं को मनुष्यजाति पूर्वकाल में प्राप्त कर चुकी है उन्हें उसने किस मूल्य पर प्राप्त किया था। निकट भूतकाल ने वस्तुतः हमारे लिये राष्ट्र बनाया, फिर राष्ट्रों के एक स्वाभाविक समजातीय साम्राज्य का निर्माण किया जो जाति और संस्कृति में समान थे अथवा जो भौगोलिक आवश्यकता और पारस्परिक आकर्षण द्वारा एक हो गये थे; उसने एक ऐसे कृत्रिम विषमजातीय साम्राज्य की भी स्थापना की जो विजय द्वारा प्राप्त किया गया था तथा जिसे बल-प्रयोग, कानून के जुए तथा व्यापारिक और सैनिक उपनिवेशीकरण द्वारा सुरक्षित रखा गया था, किंतु ये सब अभी तक सच्ची मनोवैज्ञानिक एकताओं पर आधारित नहीं थे। समष्टिकरण के इन सिद्धांतों में से प्रत्येक ने ही समूची मानवजाति को कोई न कोई वास्तविक लाभ या उन्नति की संभावना प्रदान की है पर प्रत्येक के ही साथ उसके अपने अस्थायी या स्वभावगत दोष रहे हैं और प्रत्येक ने मानवता के पूर्ण आदर्श को किसी न किसी प्रकार की चोट पहुंचाई है।

एक नई एकता का निर्माण जब बाह्य और यांत्रिक प्रक्रियाओं के द्वारा आगे बढ़ता है, तो इससे पहले कि इकाई अपने आंतरिक जीवन के नए और स्वतंत्र विस्तार का फिर से उपभोग करे, उसे, वास्तव में, साधारणतया और प्रायः ही किसी क्रियात्मक आवश्यकता के कारण आंतरिक संकोच की प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है, क्योंकि उसकी पहली आवश्यकता और सहजप्रेरणा उसके अपने अस्तित्व को बनाने तथा सुरक्षित रखने की होती है। अपनी एकता को क्रियान्वित करना उसकी सबसे प्रबल प्रेरणा है और उस उच्चतम

आवश्यकता के आगे उसे विभिन्नता, सामंजस्यपूर्ण जटिलता, विविध साधनों की समृद्धि तथा आंतरिक संबंधों की स्वतंत्रता का बलिदान करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा किये बिना जीवन की सच्ची पूर्णता प्राप्त करना असंभव है। शक्तिशाली और दृढ़ एकता लाने के लिये उसे एक अति प्रबल केंद्र, या केंद्रित राज्य-सत्ता की स्थापना करनी पड़ेगी, चाहे वह सत्ता राजा की हो या सैनिक कुलीन-तंत्र अथवा धनिक-वर्ग की या फिर किसी और शासन-पद्धति की हो। व्यक्ति, जनपद, नगर, प्रदेश या किसी अन्य छोटी इकाई की स्वाधीनता और स्वतंत्र जीवन को इस केंद्र या सत्ता के अधीन होना पड़ेगा तथा इसपर अपने आपको बलिदान कर देना होगा। इसके साथ ही समाज की एक दृढ़ रूप में यंत्रीकृत तथा कठोर अवस्था के निर्माण की प्रवृत्ति भी पाई जाती है; यह अवस्था कभी कभी भिन्न भिन्न वर्गों या श्रेणियों की ऐसी क्रमिक व्यवस्था होगी जिसमें निम्न वर्ग को हीन स्थान और कर्तव्य दिया जायगा जिसके फलस्वरूप उसे उच्च वर्ग से अधिक संकुचित जीवन बिताना पड़ेगा। यूरोप में राजा, पुरोहित, कुलीनतंत्र, मध्यमवर्ग, किसान तथा सेवकवर्ग की ऐसी क्रमिक वर्गव्यवस्था और भारतवर्ष में कठोर वर्णव्यवस्था इसके उदाहरण हैं। पहली ने यूरोप में नगर और उपजाति के समृद्ध और स्वतंत्र जीवन का तथा दूसरी ने भारतवर्ष में उत्साही आर्य-वंशों के स्वच्छंद और स्वाभाविक जीवन का स्थान ले लिया था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहले देख भी चुके हैं, पूर्ण ओजस्वी सामान्य जीवन में सबका या अधिक लोगों का उत्साहपूर्ण और सक्रिय भाग लेना—जिससे पहले समय की छोटी परंतु स्वतंत्र जातियों ने अत्यधिक लाभ उठाया था—अपेक्षाकृत बड़े समुदाय में कहीं अधिक कठिन है, पहले तो यह असंभव ही है। इसके स्थान पर अब किसी एक प्रबल केंद्र या अधिक से अधिक एक शासक और संचालक वर्ग या वर्गों में जीवन-शक्ति केंद्रित हो गई है, जब कि समाज का एक बड़ा भाग एक प्रकार की जड़ता में पड़ा हुआ है और वह केवल उस जीवन-शक्ति के न्यूनतम और अप्रत्यक्ष अंश का

उतना ही उपभोग करना है जितना कि वह ऊपर से छनकर आ सकती है तथा नीचे के स्थूलतर और अधिक दीन और संकीर्ण जीवन को अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित कर सकती है। यह कम से कम वह तथ्य है जिसे हम मानव-प्रगति के उस ऐतिहासिक काल में देखते हैं जो आधुनिक जगत् से पहले का काल था तथा जिसने इसका निर्माण किया था। जो नवीन राजनीतिक और सामाजिक रूप इसका स्थान ले रहे हैं या ले लेंगे उनके ठोस निर्माण तथा एकत्रीकरण के लिये केंद्रीकारक और रचनात्मक कठोरता की आवश्यकता भी भविष्य में अनुभव हो सकती है।

ऐसे छोटे मानव-समुदाय, जिनमें सब लोग सरलतापूर्वक सक्रिय भाग ले सकते हैं, जिनमें विचारों और चेष्टाओं को शीघ्रता और स्पष्टता से अनुभव, कार्यान्वित तथा किसी बृहत् और जटिल संगठन की आवश्यकता के बिना ही रूप प्रदान किया जा सकता है, स्वाभाविक रूप में, आत्मरक्षा की सर्व-प्रमुख आवश्यकता से मुक्त होते ही, स्वतंत्रता की ओर झुक जाते है। इस प्रकार के वातावरण में स्वेच्छाचारी राजतंत्र या निरंकुश कुलीनतंत्र, अचूक पोप-शासन या धर्मांध पुरोहित-शासन जैसी प्रणालिया सरलतापूर्वक नहीं पनप सकतीं। जनसाधारण से तथा व्यक्तियों की नित्यप्रति की आलोचना के क्षेत्र से दूर रहने का वह लाभ उन्हें नहीं प्राप्त होता जिसपर उनकी प्रतिष्ठा निर्भर करती है। विशाल समुदायों तथा विस्तृत प्रदेशों में एकरूपता की जिस अनिवार्य आवश्यकता को वे अन्यत्र उचित ठहराते हैं उसकी जरूरत यहां नहीं पड़ती। अतः रोम में हम देखते हैं कि राजतंत्रीय शासन-पद्धति अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सकी और ग्रीस में यह एक ऐसी अस्वाभाविक पद्धति मानी गई जिसने कुछ काल के लिये जबर्दस्ती अपना अधिकार जमा लिया था, उधर शासन का कुलीनतंत्रीय रूप, यद्यपि वह अधिक शक्तिशाली था, स्पार्टा जैसे शुद्ध सैनिक जन-समुदाय को छोड़कर, और कहीं न तो उच्च और अनन्य सर्वोच्चता प्राप्त कर सका और न ही स्थायी रूप में टिक सका। एक ऐसी जनतंत्रीय

स्वतंत्रता की प्रवृत्ति, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति राज्य की सांस्कृतिक संस्थाओं तथा नागरिक जीवन में स्वाभाविक रूप से भाग लेता हो, विधान और नीति के निर्धारण में समान रूप से अपना मत दे सकता हो तथा उनकी कार्यान्विति में उतना भाग तो ले ही सकता हो जितना कि उसके नागरिकता के अधिकार तथा उसकी वैयक्तिक योग्यता द्वारा उसे मिल सकता है, नगर-राज्य की भावना तथा उसके रूप में प्रारंभ से ही विद्यमान थी। रोम में भी यह प्रवृत्ति उपस्थित थी पर वह ग्रीस की भांति न तो इतने वेग से उन्नत हो सकी और न ही पूर्ण रूप से चरितार्थ हुई; कारण, वहां के सैनिक तथा विजयी राज्य को अपनी विदेशी नीति और सैनिक कार्य-व्यवहार के संचालन के लिये स्वेच्छाचारी शासक अथवा एक छोटे कुलीनतंत्रीय वर्ग की आवश्यकता थी; परंतु उस अवस्था में भी जनतंत्रीय तत्त्व सदा विद्यमान रहा और जनतंत्रीय प्रवृत्ति इतनी प्रबल रही कि रोम की आत्मरक्षा और उसके विस्तार के सतत संघर्ष के बीच में भी वह पूर्व-ऐतिहासिक काल से कार्य करती तथा बढ़ती रही। इसकी गति तभी रुकी जब रोम को भूमध्यसागर के साम्राज्य के लिये कारथाज के साथ युद्ध तथा ऐसे ही कई और महान् संघर्ष करने पड़े। भारतवर्ष में प्रारंभिक जन-समुदाय स्वतंत्र समाज थे, इनमें राजा केवल सेना का प्रधान या नगर का मुखिया होता था; बुद्ध के समय में भी जनतंत्रीय तत्त्व पूरी तरह से विद्यमान था, चंद्रगुप्त और मेगस्थनीज के समय में यह छोटे राज्यों में उन दिनों भी जीवित रहा जब कि नौकर-शाही ढंग से शासित राजतंत्र और साम्राज्य अंतिम रूप से पुरानी स्वतंत्र राज्य-पद्धति का स्थान ले रहे थे। जिस अंश में सारे प्रायद्वीप में या कम से कम उसके उत्तरी भाग में भारतीय जीवन के विशाल संगठन की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव होने लगी उसी अंश में स्वच्छंद राजतंत्र की प्रणाली ने समस्त देश पर अपना अधिकार जमा लिया और पंडित एवं पुरोहित-वर्ग ने समाज की मन-बुद्धि पर अपने धर्मतंत्रीय राज्य को तथा उस कठोर शास्त्र को लाद दिया जो सामाजिक एकता

और राष्ट्रीय संस्कृति की शृंखला और कड़ी प्रदान करनेवाला समझा जाता था।

जो बात राजनीतिक और नागरिक जीवन में थी वही बात सामाजिक जीवन में भी थी। जन-समुदाय में एक प्रकार की जनतंत्रीय समानता तो प्रायः अनिवार्य होती ही है; वर्गगत प्रबल विभेदों और विशिष्टताओं का विरोधी तथ्य किसी जाति या वंश के सैनिक काल में तो स्थापित हो सकता है पर वह एक सुप्रतिष्ठित नगर-राज्य के निकट सान्निध्य में चिरकाल तक नहीं टिक सकता, हां, कुछ ऐसे कृत्रिम साधनों द्वारा जिनका कि स्पार्टा और वेनिस ने प्रयोग किया था ऐसा हो सकता है। यह विभेद रहे भी, तो भी इसका एकांतभाव कुंद पड़ जाता है और वह अपने आपको इतना सघन तथा शक्तिशाली नहीं बना सकता कि वह एक दृढ़ वर्ण-परंपरा का रूप धारण कर ले। छोटे जन-समुदाय का स्वाभाविक सामाजिक रूप हम एथेन्स में देख सकते हैं जहां एक गरीब चर्मकार भी उतना ही प्रबल राजनीतिक अधिकार रखता था जितना कि एक कुलीन और धनी व्यक्ति, जहां सर्वोच्च पद और नागरिक कार्य सब वर्गो के व्यक्तियों के लिये सुलभ थे। साथ ही सामाजिक कार्यो और संबंधों में भी उन्हें स्वतंत्र सहचारिता और समानता प्राप्त थी। भारतीय सभ्यता के प्राचीनतर अभिलेखों में हम इसी से मिलती-जुलती पर भिन्न प्रकार की जनतंत्रीय समानता देखते हैं; वर्ण-भावना के दंभ और अहंकार से युक्त कठोर वर्ण-परंपरा पीछे की बात है; पूर्वकाल के अपेक्षाकृत सरल जीवन में कार्य की विभिन्नता यहां तक कि श्रेष्ठता के साथ भी वैयक्तिक या वर्गीय श्रेष्ठता का भाव नहीं जुड़ा हुआ था। ऐसा मालूम होता है कि आरंभ में सबसे अधिक पवित्र, धार्मिक और सामाजिक कार्य अर्थात् ऋषि और पुरोहित का कार्य सब वर्गों के व्यक्तियों तथा सब प्रकार के व्यवसायियों के लिये खुला हुआ था। धर्मतंत्र, वर्ण-व्यवस्था और निरंकुश राजतंत्र की शक्ति उसी प्रकार साथ ही साथ बढ़ी जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में पादरीवर्ग और राजतंत्रीय आधिपत्य की शक्ति बढ़ी थी। इस शक्ति-वृद्धि

का कारण उन नई परिस्थितियों का दबाव था जो बृहत् सामाजिक और राजनीतिक समुदायों के विकास से उत्पन्न हुई थीं।

प्राचीन ग्रीस, रोम और भारतवर्ष के नगर-राज्यों की इन परिस्थितियों में जिन समाजों ने सांस्कृतिक प्रगति की उन्हें जीवन की एक ऐसी सामान्य स्फूर्ति तथा संस्कृति और निर्माण की एक ऐसी गतिशील शक्ति का विकास करना पड़ा जिससे आगे आनेवाले समुदाय वंचित रह गये तथा जिसे वे केवल स्वनिर्माण के लंबे समय के बाद ही प्राप्त कर सके; इस समय में उन्हें एक नए संगठन के विकास में आनेवाली कठिनाइयों का सामना तथा निराकरण करना पड़ा। ग्रीक नगर के सांस्कृतिक और नागरिक जीवन ने—जिसकी सर्वोच्च प्राप्ति एथेन्स में हुई थी—ऐसे जीवन ने जिसमें जीवन-यापन अपने आपमें एक शिक्षा थी, जहां गरीब से गरीब और धनी से धनी नाटकघर में साथ साथ बैठकर सोफोक्लीस (Sophocles) और युरीपिडीज (Eurepides) के नाटक देखा करते तथा उनके बारे में अपना मत देते थे, जहां एथिनियन व्यापारी और दूकानदार सुकरात के सूक्ष्म दार्शनिक वार्तालाप में भाग लेते थे—यूरोप के लिये उसके आधारभूत राजनीतिक सूत्रों और आदर्शों का ही निर्माण नहीं किया वरन् उसकी बौद्धिक, दार्शनिक, साहित्यिक और कलात्मक संस्कृति के सभी मूलस्वरूपों का भी निर्माण किया था। अकेले रोम नगर के समान रूप से सजीव, राजनीतिक, वैध और सैनिक जीवन ने यूरोप के लिये उसके राजनीतिक कार्य, सैनिक अनुशासन, विज्ञान, विधान और साम्य के व्यवहार-शास्त्र के नमूनों का यहां तक कि साम्राज्य और उपनिवेशीकरण के आदर्शों का भी निर्माण किया है। भारतवर्ष में आध्यात्मिक जीवन की प्राचीन सजीवता ने ही—जिसकी झलक हमें वेदों, उपनिषदों तथा बौद्धिक ग्रंथों में मिलती है—उन धर्मों, दर्शनों तथा आध्यात्मिक नियमों को उत्पन्न किया था जिन्होंने तब से प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव द्वारा एशिया या यूरोप में अपनी भावना और ज्ञान के एक अंश का प्रसार करना शुरू कर दिया है। इस स्वतंत्र, सामान्यीकृत, व्यापक रूप से स्पंदनशील, जीवंत और गतिशील

शक्ति की जड़ जिसे आधुनिक जगत् केवल अब किसी अंश में पुनः प्राप्त कर रहा है सर्वत्र, सब भेद होते हुए भी, एक ही थी; समाज के बहुमुखी जीवन में वह एक सीमित वर्ग का नहीं वरन् व्यक्तिमात्र का पूर्ण सहयोग था। प्रत्येक यह समझता था कि उसमें सबकी शक्ति है, साथ ही उसे वैश्व-शक्ति के उद्दाम प्रवाह में अपनी उन्नति करने, अपना निज-स्वरूप प्राप्त करने, सफलता लाभ करने, सोचने तथा निर्माण करने की एक प्रकार की स्वतंत्रता भी है। वह यही स्थिति अर्थात् व्यक्ति और समुदाय का संबंध है जिसकी पुनः स्थापना के लिये आधुनिक जीवन ने बोझिल, बेढंगे और अपूर्ण ढंग से किसी हद तक चेष्टा की है. यद्यपि उसके पास प्राचीन मानवजाति की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल जीवन-शक्ति और विचार-शक्ति है।

यह संभव है कि यदि पुराने नगर-राज्य, गण-राष्ट्र बने रहते और अपने आपको बदलकर और, नए जनसमुदाय में अपने जीवन को विलीन किये बिना ही, बृहत्तर समुदायों का निर्माण कर लेते तो बहुत सी समस्याओं का अधिक सरलता से प्रत्यक्ष अंतर्दृष्टि द्वारा तथा प्रकृति के अनुकूल रहते हुए समाधान हो जाता, जब कि अब हमें बड़े जटिल और दुःखदायी तरीके से तथा बड़े भारी संकटों और व्यापक विप्लवों से डरते हुए इन समस्याओं का हल करना पड़ रहा है। पर ऐसा होना संभव नहीं था। उस पुराने जीवन में भारी दोष थे जिन्हें वह दूर नहीं कर सकता था। भूमध्यप्रदेश के राष्ट्रों में हम देखते हैं कि समाज के पूर्ण नागरिक और सांस्कृतिक जीवन में सब व्यक्तियों के समान भाग लेने के संबंध में दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अपवाद किये गये थे। दास-वर्ग तो उसमें भाग ले ही नहीं सकता था और स्त्रियां भी, जिनकी जीवन-परिधि अत्यंत संकुचित थी, इस अधिकार से प्रायः वंचित ही रखी गई थीं। उधर भारत-वर्ष में दास-प्रथा नहीं के बराबर थी और स्त्रियों को भी शुरू शुरू में यहां ग्रीस और रोम की स्त्रियों से अधिक स्वतंत्र और सम्मानयुक्त पद प्राप्त था; किन्तु शीघ्र ही दास का स्थान सबसे निम्न जाति शूद्र ने ले लिया। शूद्रों और स्त्रियों को सामान्य जीवन

और संस्कृति के उच्चतम लाभों से वंचित रखने की यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ती गई कि भारतीय समाज को भी यह उसके पश्चिमी साथियों के स्तर तक ले आई। यह संभव है कि प्राचीन समाज में–यदि वह अधिक समय तक जीवित रहता तो– आर्थिक दासता और स्त्रियों की पराधीनता की दो बड़ी समस्याओं पर विचार करके उसी प्रकार उनका समाधान किया जाता जिस प्रकार आधुनिक राज्य में इनपर विचार करके इन्हें सुलझाने की चेष्टा की जा रही है, पर यह बात संशयपूर्ण है। केवल रोम में ही हम कुछ ऐसी प्रारंभिक प्रवृत्तियां देखते हैं जो इस दिशा में कुछ कार्य कर सकती थीं पर वे भी भविष्य की संभावना के अस्पष्ट संकेतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकीं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि मानव समाज के इस प्राचीन रूप को समुदायों के पारस्परिक संबंधों का प्रश्न सुलझाने में जरा भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। युद्ध ही उनके सामान्य संबंध का आधार रहा। स्वतंत्र संघ बनाने के उनके सब प्रयत्न निष्फल हुए और एकीकरण का एकमात्र साधन सैनिक विजय ही रह गया। उस छोटे समुदाय के मोह ने जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने आपको अत्यधिक सजीव समझता था एक प्रकार की मानसिक और प्राणिक संकीर्णता उत्पन्न कर दी; यह संकीर्णता अपने आपको उन नए और अधिक व्यापक विचारों के अनुकूल नहीं बना सकी जिन्हें दर्शन और राजनीतिक विचार अधिक व्यापक आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होकर जीवन-क्षेत्र में लाये थे। इसीलिये इन पुराने राज्यों को भंग होना पड़ा; भारतवर्ष में ये गुप्त और मौर्य राजाओं के विशाल नौकरशाही साम्राज्यों में विलीन हो गये जिनके बाद पठान, मुगल, और अंग्रेज आये और पश्चिम में ये उन विशाल सैनिक और व्यापारिक विजित प्रदेशों में मिल गये जो सिकन्दर, कारथेजिनियन, कुलीनतंत्र तथा रोम के गणतंत्र और साम्राज्य द्वारा प्राप्त हुए थे। इन पिछले राज्यों की एकता राष्ट्रीय नहीं बल्कि अति-राष्ट्रीय थी। मनुष्यजाति में अति व्यापक एकता लाने के लिये ये ऐसे असामयिक प्रयत्न थे जो वास्तव में तब तक पूर्णतया सफल

नहीं हो सकते थे जब तक बीच की राष्ट्र-इकाई पूर्ण और स्वस्थ ढंग से विकसित ही न हो जाती।

अतएव राष्ट्रीय समुदाय का निर्माण उस सहस्राब्दी में होना था जो रोम-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद आई। अपनी इस समस्या को सुलझाने के लिये संसार को उस समय उन अनेकों, वास्तव में, अधिकतर लाभों को छोड़ना पड़ा जिन्हें नगर-राज्यों ने मानवजाति के लिये प्राप्त किया था। इस समस्या को सुलझाने के बाद ही एक सुसंगठित, उन्नतिशील और अधिकाधिक पूर्णताप्राप्त समाज तथा सामाजिक जीवन के शक्तिशाली सांचे को और साथ ही उस सांचे के अंदर जीवन के स्वतंत्र अभ्युदय और उसकी पूर्णता को विकसित करने का कोई सच्चा प्रयत्न किया जा सकता था। पहले हमें जरा इस विकास-क्रम का थोड़ा सा अध्ययन करना होगा। उसके बाद हम इस विषय पर विचार कर सकते हैं कि बृहत्तर समुदाय के निर्माण का नया प्रयत्न पुनः पीछे हटने के खतरे से खाली हो सकता है या नहीं। इस पीछे हटने में जाति की आंतरिक उन्नति का कम से कम कुछ समय के लिये तो बलिदान करना ही पड़ेगा जिससे विशाल बाह्य एकता के विकास और उसकी स्थापना के लिये पूरा प्रयत्न किया जा सके।

(क्रमशः)

मृतकोंका वार्त्तालाप :—

तूरियु, ऊरियु

(श्रीअरविन्द)

तूरियु

स्वर्गलोकमे अवतरित होती हुई देवी लेडा, प्रातबेलाको शोभित करते हुए तुम्हारे चरण कितने सुन्दर है! पृथ्वीके गुलाबोंका रंग लाल है, पर तुम्हारे चरण स्वर्गको जिस सिन्दूरसे रंजित करते हैं उसका रंग और भी लाल है,—वह प्रेमकी ललाई है, अनुरागकी शोभा है।

देवी लेडा, मनुष्योंकी ओर अपनी कृपाके कोर फेर। युद्धका निनाद बन्द हो गया है, तीरोंकी सपसपाहट चुप हो गयी है, युद्धके जोशमें ढालोंका टकराना रुक गया है। अपनी तलवारें हमने दीवालपर टांग दी हैं। युवकगण अनाहत लौट आये हैं और एसिलोनकी युवतियां खेतों-में मधुर हर्ष और उद्वेगसे अपने प्रेमियोंके हृदयका आह्वान कर रही हैं।

देवी लेडा, हंसीकी देवी, आनन्दकी देवी! तू आ, प्रेमके कक्षोंमें, विवांहके गीतोंमें, तू आ बागोंमें और सुहावने झरनोंके तटपर जहां लड़के और लड़कियां आंखोंमें आंख डालकर देखते हैं और धीमे-धीमे दिलकी बातें करते हैं। तू घृणाको दूर कर, तू क्रोधको निकाल फेंक। प्रेम इस जगतका आलिंगन करे और कलहके उत्सुक आत्माको चुम्बनोंसे शांत करे।

ऊरियु

तूरियुका गीत सुन्दर है, पर ऊरियुका उच्चार शक्तिमान है। टेनिथका स्तोत्र सुनो।

टेनिथ, कराल मां! कपालोंकी मालासे शोभित, मृत्युकी चीखसे भरी वेदीपर अपने शिकारोंका रक्त पीनेवाली शक्तिमान और निर्मम मां!

टेनिथ, युद्धके जोशमें तेरा कर्कश निनाद उठता है और रथोंकी टक्कर

और युद्धके शोरकी आवाजको डुबा डालता है; तू, रक्तरंजित, उत्सुक और कराल, निर्मम, विराट और क्षिप्र; तू, अद्‌भुत, पूज्या मां!

मेरी बात सुन! मैं जो तुझसे डरता नहीं, मैं जो तुझसे प्रेम करता हूं, मैं तुझसे पूछता हूं: क्या तू थक गयी है, क्या तू शत्रुके रक्त और शिकारके मांससे तृप्त हो गयी है? भला शक्तिमानोंकी भूमि एसिलोनमें युद्धकी गर्जना चुप क्यों हो गयी है?

मैं नहीं थका हूं, मैं नहीं तृप्त हुआ हूं। मैं तेरा आह्वान करता हूं, तू जाग और मुझे हत्याका आनन्द फिर पाने दे, यह भूलकर कि ऊरियु युद्धमें सबसे आगे लड़ रहा है जो सेना घमंड करती और चिल्लाती है उसे तीरोंसे तितर-बितर कर गिरे हुए शत्रुका मुंड मुझे फिर कुचलने दे।

मां, उठ! बगीचे और सुन्दर महल लेडाके लिये रहने दे, एसिलोनके युवकोंके सुन्दर और स्निग्ध मुखड़े और स्त्रियोंका आनन्ददायी सौंदर्य लेडाके लिये रहने दे। मैं दरबार और संग्राममें बूढ़ा और सफेद हो गया हूं। लेडाके पास मेरे लिये कुछ भी नहीं, मैं उसके शांतिके वरदान और प्रेम तथा सौंदर्यकी प्रेरणा लेकर क्या करूंगा?

मां, कराल टेनिथ, उठ! तू जगत्‌को अपनी फुफकारसे हिला डाल, तू स्वर्गमें प्रगट हो, मनुष्योंके हृदयको रक्तकी प्याससे पागल कर, मृत्यु और हत्याके आनन्दसे उन्मत्त कर। हम तुझे मनचाहे बन्दी देंगे, तेरी वेदीपर स्त्रियों और पुरुषोंका खून बहेगा।

टेनिथ, मृत्युकी देवी, युद्धकी रानी! मृत्युके संघर्षमें स्त्रीके मधुर आलिंगनसे अधिक आनन्द है, हमारे कष्टमें स्त्रीके होठोंसे अधिक सुख है; भालोंसे बिंधा हुआ शरीर स्त्रीके चमकते हीरोंसे सज्जित गौर अंगोंसे अधिक सुन्दर है। टेनिथकी मुंडमाल तेरे वक्षस्थलपर पड़ी मालासे कहीं बढ़कर है, लेडा!

तूरियु

युद्ध और गीतमें दक्ष ऊरियु, तुम्हारा गान महान् है, पर मेरा भी सुन्दर है। हमें एसिलोनके मन्दिरों और बाजारोंमें मिले बहुत समय

हो गया है। युग बीत चुके हैं और पृथ्वी बदल गयी है, आसाके राजकुमार !

ऊरियु

मैं महानोंके स्वर्गमें रह रहा हूं जहां हम सारे दिन लड़ते हैं और शामको भोजमें साथ शामिल होते हैं।

तूरियु

और मैं प्रेम और गीतके बागोंमें, जहां फूलोंसे शोभित तटपर समुद्र मन्द मर्मर ध्वनि करता है। किन्तु अब समय आ गया है कि मैं नीचे उतरूं और अस्थायी सुखके स्थानोंमें फिरसे गीत और मधुरता बहाऊं।

ऊरियु

मैं भी नीचे उतरूंगा क्योंकि आवश्यकता योद्धाकी भी है, केवल कवि और प्रेमीकी नहीं।

तूरियु

जगत् बदल गया है, आसाके राजकुमार ऊरियु ! तुम्हें अब हत्या और निर्दयताका आनन्द और नहीं मिलेगा। मनुष्य अब सदय हो गये हैं, उनमें कोमलता और सुकुमारता आ गयी है।

ऊरियु

मैं नहीं जानता। मुझे टेनिथ जो कुछ करने देती है, वही मैं करूंगा। उसकी बनायी दुनियामें यदि कठोरता न होती, निर्दयता न होती, तो मेरी पुकार नहीं होती।

तूरियु

हम साथ उतरेंगे और देखेंगे कि जिस जगत्में इतने लाखों वर्ष बाद हमारी मांग हो रही है वह आखिरकार है कैसा।

उद्धारक परसियस

(श्रीअरविन्द)

(२)

अंक १

दृश्य २

(दृश्य वही। पंखोंवाले जूते पहने परसियस बादलोंमेंसे उतरता है।)

पर०—ऐ समुद्र-तटकी ऊबड़-खाबड़ चट्टानो, निद्रित अंतरीपो, तुम्हारी विशाल पीठें नील गगनमें उठ रही हैं, तुम्हारा स्वागत है, और हे विशाल बहु-निनादकारी सागर, तुम्हारा भी स्वागत है ! ऐ भूमि-खंडो, तुम इन डरावने तटोंसे भले ही घिरे हुए हो, फिर भी यदि तुममें मनुष्योंका आनंद निवास है, हर्ष-कल्लोलपूर्ण गृह हैं, यदि तुममें ऐसे निर्झर हैं जहां बात करती बालाएं घड़ोंमें जल भरती हैं और शीतल जलमें अपने गोरे पैरोंसे क्रीड़ा करती हैं, यदि तुममें वृक्ष हैं और हरा परिधान ओढ़े भूमि है; जहां लाखों डालोंमें पक्षी चहचहा रहे हैं; तो सीरिया, मिश्र या इओनियाके तटो, मैं, दानाका पुत्र परसियस, तुम्हारा अभिनंदन करता हूं। मुझे लम्बे समयतक केवल पालेकी मार खाते हुए, शीतल कुहासेसे भींगते, उत्तरीय वायुके बर्फीले झोंकोंसे नहाते हुए द्वीपोंमें रहना पड़ा है। इतने दिनोंतक हिम-राशिकी दारुण नीरवतासे बन्द पड़े मेरे कान सागरकी लहरोंकी कुछ आवाजोंका भी स्वागत कर रहे हैं। आह, उस असह्य चुप्पीकी अपेक्षा तो मुझे मर्त्योंका कष्ट-क्रन्दन भी अधिक अच्छा लगता है क्योंकि वह मानवीय तो है। हे धरती माता, मैं तेरा और तेरे संरक्षक सागरका गुणगान करता हूं, और मनुष्योंके सुन्दर जीवन-का पोषण करनेवाले, हे ऊष्ण दक्षिणके सूर्य, तेरा भी गुणगान करता हूं। मैं भौंरोंसे गुंजरित मैदानोंमें दूर दूरतक जाऊंगा, अन्नके खेतोंमें स्त्रियों

और पुरुषोंसे मिलूंगा और एक बार फिर स्वाभाविक भोजन पाऊंगा। परंतु नहीं, पहले मुझे इन तीक्ष्ण दांतोंवाली चट्टानोंपर चूर-चूर इस पोतकी सहायताके लिये उड़ना है। हे हंसते-रोते मानवीय मुखड़ो, तुम मुझे प्रिय हो गये हो; तुम जो कि तेजस्विताके साथ जीवन व्यतीत करते और गतिमान होते हो, तुम बर्फीले प्रांतोंसे परे उस दानव जगत्के पाषाणवत् मुखड़ों और गोरगन[1] दृश्योंकी तरह तो नहीं हो। अमानवीय बाढ़की मृत लहरोंमें मैं तुम्हें अब और नहीं खोऊंगा।

(परसियस उतरता-उतरता दृष्टिसे ओझल हो जाता है।)

(इओलौसका सीरियस, दर्सितिस और सिपाहियोंके साथ प्रवेश।)

इ०—साथियो, इन चट्टानोंके बीच अपना छिपनेका स्थान तैयार करो, पर संकेत पाते ही तुम सब कोई हथियारोंको शिकारपर साधे अपनी चट्टानी मांदोंमेंसे निकल आना और शिकारोंमें उनकी नोक भोंक कर फिर मजेसे उन्हें घुमाना।

सी०—हे पोसीडन, मनुष्यको निगलनेवाले, पृथ्वीको हिलानेवाले, मैंने तुम्हें इन अठारह वर्षोंतक घिस-घिसकर नहलाया है। मैं तुझसे विनती करता हूं कि तू मेरे इन कामोंका मेहनताना बढ़ा दे, तू मुझसे बेईमानी या कंजूसी मत कर। १८.३६५.२, यही उनका कुल जोड़ है, और हे महान् पोसीडन, इस हिसाबमें कहीं 'लीप इअर'[2] न भूल जाना।

इ०—चलो छिप चलें, क्योंकि उनके आनेकी आवाज सुनायी पड़ती है।

---

[1]यूनानी कथाओंमें तीन बहिनोंके नाम आते हैं जिनमें किसीके लिये भी 'गोरगन' शब्द प्रयुक्त होता है। इनके सरपर सर्प भरे थे और इनकी दृष्टि जिसपर पड़ती थी उसे पत्थर बना देती थी। इन बहनोंमेंसे एकका नाम मेडूस्थ था जिसे परसियसने मार डाला था।

[2]अंगरेजी वर्षोंमें प्रत्येक चौथे वर्षके फरवरी महीनेमें २८ की जगह २९ दिन होते हैं और उस वर्षमें ३६५ दिनकी जगह ३६६ दिन होते हैं। ऐसे वर्षको 'लीप इअर' कहा जाता है।

(वे लोग छिप जाते हैं। परसियस टिरनौस और स्मर्डसको साथ लेकर लौटता है।)

पर०——चाल्डिआके व्यापारियो, आह कितना अच्छा होता यदि रक्षा करनेके लिये मेरी चाल उतनी ही तेज होती जितनी कि अपने शिकार-की मौतके लिये झपटनेमें बाजकी होती है! तब इतने सारे बलिष्ठ मनुष्योंकी सुन्दर देहें जो सागरकी लहरोंमें खो गयी हैं, सुखकी इतनी उत्सुक आशाएं जो बुझ गयी हैं, ये सब अभी भी सूर्यकी किरणोंको आनंद देती होतीं। फिर भी, जगत्के शोरगुल और क्रियाकलापोंके लिये जो दो आनंदपूर्ण जीवन बच गये उनके लिये मैं सहायक देवोंकी प्रशंसा करता हूं।

टि०——दीप्तिमान युवक, सुन्दरतामें तुम्हारा मुखड़ा आनंदित देवताके समान है, शरीरके जीवनका जो कुछ भी मूल्य हो, इसकी रक्षा करनेके लिये मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूं। स्मर्डस, इस विषाद-दृष्टिको अपनी आंखोंसे दूर कर! धन चला ही गया तो क्या हुआ, तेरा शरीर तो नहीं गया जो धन जमा करनेका सबल औजार है और न मस्तिष्क ही गया जो भविष्यको देखता और शरीरसे कार्य कराता है।

स्म०——अरे, वे तीन हजार कीमती नग, बहुमूल्य हीरोंसे ठसाठस भरे चालीस सन्दूक! सब चला गया, आह, सब एक क्षणमें चला गया! अब हम भिखारी हैं।

टि०——किंतु स्मर्डस, बाहु या मस्तिष्कके भिखारी नहीं।

स्म०——कड़ी मेहनतको मजबूर खेतिहरके पास भी ये चीजें हैं।

पर०——सौदागर, तुम्हारी हानिके लिये मुझे दुःख है। ये सारी चीजें दिनके उजालेमें चमकनेके लिये बनी थीं और क्षोभ होता है यह जानकर कि उनसे नासमझ तरंगें खेल रही हैं। फिर भी तुम्हारा जीवन तो बच गया है जो कि सबसे सुन्दर वस्तु है। क्या केवल सूरजका प्रकाश ही कुछ नहीं है? क्या सांस लेना ही एक आनंद नहीं है? देवोंके प्रति धीरज रखो, वे विद्रोह नहीं चाहते और नयी चाबुकोंसे उसका दमन करते हैं।

स्म०—आह, यदि समुद्र मुझे भी निगल जाता और मैं अपने प्रिय धनके साथ घुलमिल जाता ! सीरियाके युवक, मुझे तुम ही बताओ, क्या समुद्रमें गोते लगानेवाले इधर कोई नहीं हैं, जो पातालसे मेरा धन निकाल ला सकें ?

पर०—चाल्डिआके व्यापारी, मैं इस देशका नहीं हूं। तुम्हारी ही भांति मैं भी आज पहली ही बार इन तटोंकी लहरोंका गर्जन सुन रहा हूं।

स्म०—बुरा हो उस क्षणका जब हम इन तटोंके समीप आये ! हे कठोर समुद्र-देव, यदि तुझे मेरा धन ही लेना था तो मेरी आत्माको लेकर इस रिक्त शरीरको छोड़ देनेकी निर्दय दया तूने क्यों की ? जीवनमें मिठास लानेवाली सब चीजोंसे हीन यह शरीर अब भिखारी हो गया है। सब कुछ ले ले और ले ले इस शरीरको भी।

इ०—(आगे आता हुआ) तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार की जाती है, बेबिलोनियाके वासी।

(सिपाही प्रगट हो जाते हैं और परसियस तथा व्यापारियोंको घेर लेते हैं।)

सी०—सारी अच्छी चीजें डूब गयीं। अरे अभागा सीरियस ! अरे लोभी पोसीडन !

स्म०—बचाओ, बचाओ ! हमारे जीवनको भय दिखानेवाली ये भालोंकी नोकें किसकी हैं ?

टि०—भाग्यकी ! यह वही विचित्र असत्कारी सागर-तट है जहां विनष्ट पोतके यात्रीका आतिथ्य-स्नान उसीके गर्म रक्तसे कराया जाता है। (तलवार खींचता है) पर मृत्युका पासा फेंकना अभी बाकी है।

इ०—व्यर्थ तलवार न खींचो विदेशी, देवोंके विरुद्ध कोशिश न करो। यह वही तट है जिसके समीप पोसीडनका मंदिर है। वहां चट्टानोंको काटकर बनाये हुए अंधियाले गृहमें श्वेतांगी पोसीडन विराजमान हैं और उनके विषादपूर्ण नील केशगुच्छ दयनीय, घायल नाविकोंको देख-कर झूम उठते हैं। तुम तीन जने आये हो, अच्छी बात है, ऐ सुखी यात्रियो, इतने दिनोंसे सूखी पड़ी वेदी तुम्हारी भेंटका स्वागत करेगी।

स्वर्गकी राह अब तुम्हारे लिये सीधी खुली है।

पर०—सीरियाके छोकरे, बुरा और निर्दयी तुम्हारे देशका धर्म है, पर यह धर्म है इस नाते तू अपनी इच्छा पूरी कर, बशर्त्ते कि तेरी ताकत भी तेरी इच्छासे कम न हो। पर तो भी मुझे ऐसा लगता है कि मृत्युके शांत प्रदेशमें जानेके पहले मुझे अभी बहुत लम्बी- राहें तय करनी हैं।

टि०—(अपनी तलवार फेंकता हुआ) ले लो मुझे। अपने भाग्य-के दुर्दिनमें व्यर्थका क्रोध कर मैं देवोंको कोई प्रसन्न नहीं कर सकूंगा।

(वे टिरनौसको पकड़ लेते हैं।)

स्म०—रे दुष्ट मूर्ख! तू मुझे उस तलवारसे बचा सकता था। अब तो हे युवक! हे दीप्तिमान विदेशी! तुम शक्तिमान हो, तुम ही मेरी सहायता करो।

पर०—सौदागर, तुम अब भी जीना चाहते हो?

स्म०—इन चमचमाते भूखे भालोंके डरसे मैं तो मरा जा रहा हूं। अरे ये लोग मेरी जीती छातीमेंसे मेरे क्षिप्त हृत्पिंडको खोद निकालेंगे और उस रक्त बहते हुए पिंडको वीभत्स वेदीपर फेंक देंगे। वीर, मेरी रक्षा करो!

पर०—तुम्हारे लिये मैं देवोंसे नहीं लड़ूंगा। मनुष्यसे समानता रखने-वाली तुच्छसे तुच्छ चीजको भी भीषण अग्नि या चौड़ा मुंह बाये जल-राशिमेंसे बचा लेना आनंदका कार्य है। लेकिन पागल है वह जो दूसरे-के सुखके लिये देवोंके निर्मम प्रकोपका भाजन बनता है। परंतु प्रत्येक मनुष्यको अधिकार है कि अपने जीवनके लिये देवोंसे भी लोहा ले; तो हे प्यारे मित्र, अपने साथीकी तलवारको जमीनसे उठा ले, तबतक तेरे सरको इन लोगोंके आक्रमणसे मैं बचा, रखूंगा।

स्म०—आह! तुम मेरी हंसी उड़ाते हो। मैं हथियारोंमें कुशल नहीं हूं और न मैं कोई योद्धा ही हूं। मुझे बचाओ!

(सीरियाके निवासी स्मर्डसको पकड़ लेते हैं।)

सहायता करो! मैं निरापद हो जाऊंगा तो तुम्हें बेबिलोनका सारा धन दे दूंगा।

पर०—मेरी तलवार स्वर्गकी है। वह खरीदी नहीं जा सकती।

(स्मर्डस और टिरनौसको वे लोग ले जाते हैं।)

इ०—इस प्रभावशालीको भी पकड़ चलो।

पर०—(तलवार खींचता हुआ) एशियाके छोकरे, ठहर! मेरी बाहु दुर्बल नहीं है और न मेरा हृदय ही। तू अभी बहुत अल्पायु है, अत्यंत प्रसन्न, अत्यंत सुन्दर। तेरे चमकीले घुंघराले बालोंको मैं आलिंगनके अतिरिक्त किसी कठोर स्पर्शसे अस्तव्यस्त नहीं करूंगा।

इ०—तुम कोई भी हो अपरिचित, इच्छा करती है कि तुम्हारे प्रफुल्ल शरीरको काली छूरीसे अछूता रखूं। पर दारुण वाध्यता है मेरी, ऐसी ही क्रुद्ध इच्छा है सागरके स्वामीकी। मर्त्य मनुष्य अपने दुर्बल पोतोंसे उसके शक्तिशाली कठोर सागरोंका अपमान करें, इस बातसे वह तड़फड़ा उठता है, इसीलिये उसने अपना कराल मन्दिर यहां बनाया है; लहर और तूफानसे विषम संघर्ष करते हुए जो हार जाते हैं वे उसकी चट्टानोंसे बच भी निकलें तो उन अभागोंको उसकी वेदीपर अपना पीड़ित रक्त बहाना होता है।

पर०—पर मैं समुद्रसे नहीं आया हूं।

इ०—और कोई रास्ता नहीं जिससे मनुष्य आ सकें, क्योंकि अन-जान पैरोंके लिये यह भूमि निषिद्ध है। (मुस्कुराता हुआ) लेकिन हां, तुम्हारे जूतोंमें लगे ये भड़कीले पंख यदि वास्तवमें तुम्हें शून्यमें उड़ा ले जाते हों तो बात दूसरी है।

पर०—क्या ऐसे कोई नहीं हैं जिन्हें ठहरनेके लिये न तो ठोस धरती चाहिये और न बहनेके लिये समुद्रका खारा जल? मैं शायद ऐसे लोगोंमें-से हूं।

इ०—नहीं, तुम ऐसे लोगोंमेंसे नहीं हो। देवता देखनेमें होते हैं विषण्ण और भयंकर, या यदि वे प्रभावशाली भी हुए तो होते हैं सुदूरस्थ, विराट् और कराल। किंतु तुम तो उन्मुक्त और सुन्दर हो, सीरियाके नील गगनकी भांति, और तुम्हारा पौरुष शरीर आंखोंको लुभाता है। हथियार डाल दो! हो सकता है देवता तुम्हें छोड़ दे।

पर०—छोड़ दे अपने युद्ध-कुत्तोंको मुझपर। यदि वे मुझे जीता पकड़ सके तो तेरे देवताके लिये अपना रक्त बहानेमें मुझे संतोष रहेगा।

इ०—क्या तूने देवयोनिमें जन्म लिया है कि एक तलवारसे सैकड़ों भालोंको पीछे हटा सकेगा?

पर०—मेरी तलवार मेरे हाथोंमें है और वही इसका उत्तर देगी। बातोंसे मैं उकता गया हूं।

इ०—दर्सितिस, ठहरो। इसका मुख स्वर्ग जैसा सुन्दर है। हे भयंकर पोसीडन! विपुल नमकीन जलराशिकी भूरी खाइयोंके नीचे अपनी आर्द्र गुहाओंमें इस युवकको लेकर तू क्या करेगा? उसे छोड़ दो मेरे लिये और सूर्यकी किरणोंके लिये।

(पोलीडान और फीनियसका पीछेसे प्रवेश।)

द०—राजकुमार, आज्ञा दीजिये।

इ०—इस सूर्य-देवको जीवित रहने दो।

द०—यह निषिद्ध है।

इ०—किंतु मैं अनुमति देता हूं।

पोली०—(आगे आता हुआ) पर सीरियाके इओलौस, दयालु स्वर्गने तुझे देवता कब बना डाला कि तू पोसीडनके विरुद्ध गर्वीली आज्ञा चलाता है? क्या तू समुद्रके सर्वाधिपति देवकी आज्ञाको काटेगा?

इ०—पोलीडान—

पोली०—क्या पृथ्वीके किसी राज्यके कारण तेरा मर्त्य गर्व इतनी दूरीतक बढ़नेकी मूर्खता कर बैठा है कि तू अपनेको देवोंकी बराबरीका मानता है? खबरदार, बलिदानकी भूरी छूरी आजसे पहले भी राजाओंका रक्त बहा चुकी है।

इ०—हमारा रक्त! तू मुझे धमकानेका साहस करता है, घमंडी पुजारी? वापस चला जा खूनसे रंगे अपने श्वान-गृहमें। मैं इस अपरिचितको मुक्त करता हूं।

पोली०—कप्तान, इन दोनोंको पकड़ लो। तुम हिचकते हो? वह राजकुमारके नामके साथ खिलवाड़ कर रहा है, क्या तुम इसीसे डरते

हो? अरे, तुम डरो पोसीडनके क्रोधसे।

फी०—युवक इओलौस, बुद्धिसे काम लो। पोलीडान, तुम्हारा उत्साह राजोचित आदरकी सीमा पार कर गया है।

इ०—मुझे तुम्हारे संरक्षणकी आवश्यकता नहीं है टायरके फीनियस, यह मेरा देश है।

(तलवार खींचता है।)

फी०—(अलग, पोलीडानसे) अच्छा हो यदि उसे अभी समाप्त कर दिया जाय, क्योंकि उसकी तलवार अभी जनताके सामने उनके देवताका विरोध करने निकली हुई है, और देवताओंका बदला चुकानेवालोंको कौन दोष देता है?

पोली०—सीरियाके लोगो, पोसीडनके प्रति किये गये इस राजकुमारके अपराधको अपने सरपर लोगे?

द०—इन्हें पकड़ लो, पर मारो नहीं। सीरियाके राजाओंका रक्त बहानेका साहस कोई न करे।

सैनिक०—पोसीडन! महान् पोसीडन!

पर०—इओलौस, अपनी तलवारको म्यानमें रखो। इन लोगोंके लिये मैं ही काफी हूं।

(परसियस अपनी खुली ढालको सैनिकोंके चेहरोंके सामने हिलाता है, वे लोग आंखें ढककर पीछेकी ओर लड़खड़ाते हुए हटते हैं।)

इ०—हे देवता! सीरियाको कैसी विभूति जगमगा रही है!

पोली०—आश्चर्य! क्या यह हमारा सामना करनेवाला कोई देव है? पीछे हटो, पीछे!

सी०—स्वामी, स्वामी, भाग खड़े होओ। दौड़ो, दौड़ो, मेरे टायरके अच्छे राजा, यह तो आत्मघात करना या करवाना है। पंखोंवाले जूते पहने स्वयं जियस पृथ्वीपर उतर आये हैं और उनके पास फास्फोरसकी बनी ढाल है।

(वह दौड़ जाता है, उसके पीछे-पीछे उससे धीमी चालसे

(दर्सितिस और सैनिक चले जाते हैं।)

फी०—तुम जो कोई भी हो, मुझे नीचा नहीं दिखा सकते।

(खुली तलवार लेकर आगे बढ़ता है।)

क्या तुम्हारे पास स्वर्गका वज्र भी है?

पोली०—(उसे पीछे खींचता हुआ) पीछे लौटो, फीनियस। एथिनी-की आग्नेय झालरोंवाली ढालसे ही ऐसी बिजलियां निकलती हैं, यहां पार्थिव तलवारसे काम लेना पागलपन होगा।

(वह फीनियसके साथ चला जाता है।)

इ०—हे प्रभादीप्त, शक्तिमान, अमर पुरुष! इओलौस तुम्हारे सामने घुटने टेकता है।

पर०—नहीं, इओलौस, यह ठीक है कि एथिनी मेरी बाहुमें कभी-कभी दैवी शक्ति फूंक देती हैं, पर मैं मर्त्य व्यक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूं।

इ०—क्या तुम बस मनुष्य ही हो? तो आओ, इओलौसके मित्र और प्रेमी बन जाओ। ऐसा मालूम होता है कि नियतिने तुम्हें अन्य लोकोंसे बस पूरी मेरी ही चीज बनाकर भेजा है।

पर०—सीरियाके ऊष्ण सूर्यकी सुन्दर युवा संतान, हाथ आगे बढ़ा, मेरा आलिंगन कर! तू मर्मर ध्वनि करते जलपर सूर्य किरणोंसे पुष्ट होती हुई विजयमालकी भांति है।

इ०—क्या नाम है तुम्हारा? किस स्मरणीय भूमिने तुम्हें नील गगनको प्रदान किया है?

पर०—मैं आरगोलिससे आया हूं। परसियस मेरा नाम है, मैं दानाका पुत्र हूं।

इ०—मित्र परसियस, आओ मेरे साथ। हमने तुम्हारा भयानक सत्कार किया, तुम्हारे साथ पताकाकी भांति रहनेवाली सुन्दर प्रफुल्लता-के सर्वथा अयोग्य! परंतु अब तुम्हें अधिक सदय सीरिया दिखायी देगा। मेरे पिता राजा सीफियस तुम्हारा स्वागत करेंगे, मेरी मां तुमसे मांकी भांति मिलेंगी, और हमारी आन्द्रोमिदाकी हर्षभरी मुस्कान तुम्हें तुम्हारे

स्वप्नोंसे भी अधिक सौंदर्यशाली जगत्की झलक देगी।

पर०—इओलौस, मैं फिर भी तुम्हारे पिताके महलमें खुश रहता, पर मैं नहीं चाहता कि अभी सीरियामें विख्यात होऊं। क्या समीपमें कोई झोपड़ी नहीं है जो बगीचोंकी दीवालोंसे घिरी हो, कच्चे अनाजकी हरियालीसे भरी हो, चपल चमकती तरंगोंकी टक्करें खाती हो, जहां मैं प्रेमी ग्रामवासियोंके साथ ठहर सकूं और प्रातःकाल मुर्गेकी बांगसे उठा करूं, जैसा कि मेरे प्यारे सेरीफोसमें होता था?

इ०—ऐसा एक गांव हमारी पहाड़ियोंसे सटा पड़ा है, वहां जब-तक तुम सीरियामें प्रगट होना नहीं चाहते हमारी स्नेही साईदोनके साथ आरामसे ठहर सकते हो और मैं भी किसीकी पूछताछके बिना तुमसे मिल सकता हूं।

पर०—तो मुझे वहीं ले चलो। मैं प्यासा हूं कुटियोंके शांत अ-ज्ञात निवासके लिये, सुखी आकांक्षारहित बातचीतके लिये, सीधे-सादे सरल लोगोंके लिये। मैं इन्हींके साथ आराम करूंगा, न कि अवरुद्ध शोर और घृणाके लाल मुखड़ोंके बीच शाही नगरोंकी कृत्रिम ठाठमें। मैं विशुद्ध मानवताका रसपान करूंगा, वर्षासे सिंचित पृथ्वीकी निर्दोष सुगंध मुझे मिलेगी, और इस प्रकार उन्नत निर्मल मनको लेकर महान् साहसिक कार्यके लिये मैं बलदायिनी भूमिसे उद्भूत होऊंगा।

(उनका प्रस्थान।)

धारावाहिक रूपसे :—

शतदल

(श्रीनारायणप्रसाद 'बिन्दु')

(५६)

जीवनका ढंग बदल मन
अब जीवनका ढंग बदल।

भूल भूतकी अकथ कहानी—
गुदड़ी सीना वही पुरानी,
ले नूतन स्वर, नूतन वाणी
चल भावी रणमें करें गमन।

प्याला जीर्ण पुरातन तोड़,
नाता नूतनसे फिर जोड़,
अंध कूपमें रहना छोड़,
चल अगम सिंधुमें करें गमन।

गट्ठर क्यों तू कर रहा वहन?
जब करनेको प्रभु तुझे वरण!
छेदन कर निजसे निज बंधन
चल जहां कभी न रोता घन!

(५७)

तुम हंस दो, सब शुष्क हरा हो जाय।

पीले पत्ते-सा पीला तन,

सूखे पौधे-सा सूखा मन,

झुलसा जीवन, अटका साधन

तुम कह दो, मरु वृन्दावन हो जाय।

अपनी पशुतासे हैरान,

अपनी जड़तासे म्रियमाण,

कुचली आशा, बुझी अभीप्सा

तुम वर दो, उर भानु उदय हो जाय।

कौन रखा दृग परदा तान?

अंधकार कैसा शैतान!

अति दग्ध हृदय, संतप्त प्राण

तुम छू दो, पाहन शुभ पारस हो जाय!

दिव्य जीवन

(अवतरणिका)

(श्रीअनिर्वाण)

(वर्ष २ से अंक ११ आगे)

(९)

जड़का परिचय मिल गया। अब उस परिचयको जरा अध्यात्म-चेतनाकी दृष्टिसे भी जांच लें।

जड़, शक्ति और चैतन्य—इन तीनों तत्त्वोंको एकके बाद एक सजा लिया। इनमेंसे, कह सकते हैं कि, जड़का रूप है, शक्ति और चैतन्य अरूप हैं। जड़के रूपको हम देखते हैं इंद्रियोंके द्वारा। जड़के मूलमें है शक्ति, इसका अनुमान करते हैं उसका कार्य देखकर। अपने अंदर शक्तिका पता पाते हैं संकल्पके अनुभवसे; जब हम कुछ करना चाहते हैं तब हम शक्तिका साक्षात् परिचय पाते हैं—एक अंतरंग अनुभवके स्पंदनके रूपमें। इस स्पंदनकी जो भूमिका है वही है आत्मचेतना। उसका बोध है सबसे अधिक निबिड़, सबसे अधिक अंतरंग।

इंद्रियपथसे पकड़ाई दे रहा है जड़का विचित्र रूप, अगणित बहुका मेला। बहुके वैचित्र्यको बुद्धि समेट ले आ रही है कुछ थोड़ेसे सामान्य रूपोंमें; जैसे, बहुतसे मनुष्योंको छानकर उसने तैयार किया है 'मनुष्य-त्व' का एक कल्परूप। सामान्यकी भी सामान्य कल्पना की जाती है—जैसे, 'मनुष्यत्व', 'पशुत्व' और 'उद्भित्व' का सामान्य रूप है 'जीवत्व'। इसी तरह हम जड़के भी एक सामान्य रूपकी कल्पना कर सकते हैं। जो कुछ हम अपनेसे बाहर अनुभव करते हैं वही जड़ है; बस यही है जड़का सामान्य परिचय। उसका रूप है। विचित्र रूप-

के मूलमें एक सार्वभौम सामान्य रूप है—उसे कहते हैं 'द्रव्य' अथवा 'रूप-धातु' अर्थात् रूपकी धातु या उपादान। रूप-धातु है जड़का मौलिक सामान्य रूप। इसे कभी-कभी कहा जाता है 'अव्यक्त' जो कि समस्त व्यक्त रूपका गर्भाशय है। ब्रह्मके सद्भावकी वह दूसरी पीठ है।

कह चुका हूं, रूप हमारे बाहर है। 'हमारे बाहर'का अर्थ पहले लिया—हमारी देहसे बाहर। फलस्वरूप पाया अपना अतिपरिचित विराट् जड़-जगत्। किंतु 'हमारे बाहर' का अर्थ 'हमारी देहकी सीमाके भीतर अथच हमारी आत्मचेतनासे बाहर' यह भी हो सकता है। उस दशामें हम पाते हैं अपनी बुद्धिसे ग्राह्य एक दूसरा ही अतिविचित्र अंतर्जगत्। बाहरमें हम जिसे जड़ समझते हैं वही इस जगत्में घुसता है 'प्रत्यय' या बोध होकर; उसके अतिरिक्त उसके अपने बहुतसे बोध भी खौलते रहते हैं उसके अंदर। इन सबको यदि हम एक साथ एक दृष्टिसे देखें तो हम कह सकते हैं: बाहरका इंद्रियग्राह्य जड़-जगत्, अंतरका बुद्धिग्राह्य प्रत्यय-जगत्, और फिर उसकी भूमिकामें वर्तमान आत्मबोध और संकल्पका मिथुन अथवा चित्-शक्ति—इन सबको लेकर रूप-धातुका इलाका है। उसके एक प्रांतमें तो है जड़ और दूसरे प्रांतमें है चित्।

जड़ और चित् मानो सत्ताके दो मेरु हैं। किंतु वे संपर्कहीन नहीं हैं; दोनोंके अंदर चल रहा है शक्तिका ज्वार-भाटा। तत्त्वदृष्टिसे कहा जा सकता है कि चित् जड़का आत्मा है; जड़ चित्का शरीर है। जड़का भाव है चैतन्य, चैतन्यका रूप है जड़; जड़का अर्थ है चित्, चित्की वस्तु है जड़।

किंतु प्राकृत दृष्टिमें दोनोंका यह निबिड़ संपर्क धूमिल हो जाता है। जड़ उस समय मालूम होता है चित्-सत्ताका मूर्त प्रतिषेध। जड़के विरुद्ध चैतन्यकी नालिश उस समय प्रत्येक धाराके अनुसार जमती जाती है।

पहली नालिश है, जड़के अंदर हम देखते हैं अविद्याकी चरम घनता। चैतन्य यदि प्रकाश है तो फिर जड़ है अंध-तमिस्रा। जड़

निर्जीव है, उसकी शक्तिकी लीला अर्थहीन प्रमत्ततामात्र है।.......
दूसरी नालिश है, जड़का विधान एक अंध यांत्रिकताका विधान है--
मूढ़ खाम-ख्यालीके वश एक व्यापारकी नीरस पुनरावृत्तिसे उसे थका-
वट नहीं आती। प्राणकी उछलती स्वतंत्रता और मनकी उद्दीप्त
जिज्ञासाके ऊपर मानो वह चक्कीका पाट बनकर बैठा हुआ हो।.....
तीसरी नालिश है, जड़के अंदर भेद और संघर्ष मानो अपनी चरम सीमा-
पर पहुंच गये हैं। अखंड जड़की सत्ता मानो एक कल्पना भर है, सच
पूछा जाय तो उसके मूलमें खंड-भावका तकाजा ही अधिक प्रबल है।
जड़का रूप है; किंतु अखंडके चारों ओर सीमाकी रेखा खींचे बिना तो
रूपकी सृष्टि ही नहीं होती। फिर मात्र एक रूपका कोई भी अर्थ
नहीं होता; जहांपर रूप है वहींपर बहुका मेला है। बहु होनेपर
संघर्ष भी संभावित है। जड़की भेद और संघर्षकी प्रवृत्ति संक्रामित
होती है प्राण और मनके अंदर भी। मिलनके बहाने बहुकी विभिन्न-
मुखी वृत्तिका संघर्ष ही वहांका विधान है।

जड़त्वकी ये त्रुटियां मारात्मक हो उठती हैं अध्यात्मसाधकके जीवन-
में। देहका जड़त्व वहांपर होता है अविद्याका घनविग्रह, चैतन्यके प्राकट्य-
के लिये सबसे बड़ी बाधा। शरीर अबोध, दुर्जय होता है--उसके
चलनेके ढंगमें एक अंधी जिदकी बेढंगी मांग है केवल। प्राणकी स्फूर्त्ति,
मनकी ज्योति--सब कुछ दब जाता है उस जड़ स्तूपके नीचे। फिर,
देहको केंद्र बनाकर ही अहंकार इतना उग्र हो जानेका सुयोग पाता है;
इसी कारण विश्वभरमें इतना अधिक ईर्ष्या-द्वेष और मार-काट है। देह
होनेके कारण ही जगत्में अविद्याकी मूढ़ता है, अंधप्रवृत्तिकी ताड़ना है,
उच्छृंखल चित्तवृत्तिका द्वन्द्व है--फलतः दुःख भी है: समस्त दुःखवादी
दर्शनोंकी यही राय है। इसीलिये उनके मतमें विदेह-कैवल्य ही परम
पुरुषार्थ है; इस पृथ्वीकी छातीपर देह लेकर फिर न आना पड़े--बस
यही उनकी आकांक्षा है।

देहका जड़त्व अध्यात्मसाधनाकी सबसे बड़ी बाधा है--इसे अस्वी-
कार करनेका कोई उपाय नहीं किंतु देह तो केवल जड़पिंड नहीं है;

वह प्राणमय, मनोमय—यहांतक कि चिन्मय भी है। प्राण-मन-चेतना-के छन्दोमय प्राकट्यका वह वाहन है। उसके जंजालके बोझसे भी कहीं अधिक सत्य है उसकी गहराईमें विद्यमान अग्नि-स्फुलिंग। उस अग्निकी सहायतासे जड़का रूपांतर घटित हो सकता है चित्-शक्तिमें, शरीर जरा-व्याधि-मृत्यु-जित् योगतनुमें परिणत हो सकता है—प्रकृति-परिणामकी इस अंतिम संभावनाको भूलनेसे तो काम नहीं चलेगा। जड़के बंधनसे जैसे मुक्ति हम चाहते हैं, वैसे ही उसे चित्में रूपांतरित करनेकी शक्ति भी चाहते हैं। अन्यथा योगकी साधना पूर्णांग नहीं हो सकती। पुरुषकी मुक्ति और प्रकृतिकी सिद्धि—दोनोंके मिलनेपर परम पुरुषार्थका अखंड रूप बनता है।

कह चुका हूं, जड़ और चित्—दोनोंके बीच चल रहा है शक्ति-का ज्वार-भाटा। शक्तिके स्फुरणके लिये चाहिये आधार। सबसे नीचेका आधार है हमारी स्थूल इंद्रियोंद्वारा ग्राह्य जड़—रूप-धातुका जो प्रथम सोपान है। चित्की ओर ऊपर उठनेके समय उसके और भी कुछ सोपान मिलेंगे—यह असंभव नहीं है। शक्तिके प्रत्येक स्तर-में एक ओर जैसे बोध है वैसे ही दूसरी ओर है रूप। जैसे जड़-शक्ति; उसकी क्रियासे जो रूप और जो बोध खिलता है उसका चेहरा हमारे लिये खूब स्पष्ट होता है। जड़-शक्तिके बाद और भी दो शक्तियोंकी बात हम जानते हैं—प्राण-शक्ति और मनःशक्ति। जड़-शक्तिके साथ जड़ित रहनेपर भी इन तीनों शक्तियोंकी विशेषता हमारी आंखोंसे ओझल नहीं होती। एक-दूसरेसे विच्छिन्न अगणित रूप-विंदुओंमें कुंड-लित रहना ही है जड़-शक्तिका एक ढंग। प्राण चाहता है अन्योन्य-मिश्रण; किंतु उसका उपाय है—दूसरेको ग्रास करना। मन दूसरेको ग्रास न करके भी अपना बना ले सकता है—यही उसकी विशेषता है। 'वहु' की विच्छिन्नतासे क्रमशः निबिड़ ऐक्यकी ओर उलटा वापस जाना ही है तब तीनों शक्तियोंका धर्म। इसकी असली बात है जड़त्वके कवलसे चैतन्यकी मुक्ति—बोधके प्रसार और स्वच्छताके द्वारा, एवं शक्तिके स्वाच्छन्द्यके द्वारा।

विषयको समझनेके लिये अंतर्मुख होनेके सिवा और कोई उपाय नहीं। पहले ही छोड़ना होगा सब कुछको बाहर रखकर देखनेका अभ्यास, जगत्को समेट ले आना होगा अपने ही गभीर प्रदेशमें। बहिःसत्तासे नहीं, बल्कि हमारे बोधके द्वारा जड़की अंतःसत्तासे उस समय मिलता है हमें उसके स्वरूपका परिचय। जड़ उस समय बाहरमें नहीं होता, जड़ हमारे बोधमें होता है—अस्तित्वके कठिन प्रत्ययके रूपमें। एक रुद्ध-श्वास स्तब्धताकी गहराईमें उस समय आंतर बोधके सामने खुलती जाती है सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर रूप-धातुकी परंपरा। शुद्ध जड़, उसकी गहराईमें शुद्ध प्राण; उसकी भी गहराईमें शुद्ध मन: सब अनंत, स्वराट्, सुषमामय और चिन्मय है। और भी गहराईमें है विज्ञान, आनंद, चित् और सत्। सभी बोधमय, शक्तिमय और रूपमय हैं। किंतु बोध-शक्ति और रूपमें वहां पार्थक्य या विरोध नहीं है प्राकृत भूमिकाकी तरह। वहां एक अखंड अद्वैतबोधकी सुडौल पूर्णता है: केवल ज्ञानके अद्वैतकी नहीं, क्रियाके भी अद्वैतकी। किंतु क्रिया होती है कारणसे—कालातीत अचल स्थितिसे कालके प्रवाहमें शक्तिके निर्झरणके कारण।

गभीरका अनुभव ले आता है व्याप्ति और उत्तुंगताका भी अनुभव—अध्यात्मबोधकी यही है धारा। गभीरता, व्याप्ति और उत्तुंगता—इन तीन मानदंडोंके अंदर अध्यात्म-बोध सुडौल होता है। गभीरका अनुभव यदि किसी भी प्राक्तन संस्कारसे संकुचित न हो जाय तो चिद्घनबिंदुमें पहुंचकर वह स्वभावतः ही शक्तिके वृतके अंदर फैल जाता है—यह बात मैं कह चुका हूं। इस सत्यका अनुभव होनेपर हम देखते हैं कि विश्वके सभी तत्त्व परस्पर ओतप्रोत हैं: यहां जो फैला हुआ है वहां वही फिर सिमट आया है। इसी कारण प्रत्येक बिंदुपर सिंधुकी अभिलाषा और अभिनिवेश दोनों हैं। रूपधातुकी शुद्धभूमि और प्राकृत भूमिमें, ऊर्ध्वलोक और अधोलोकमें भी इस अन्योन्य-संगमका संबंध है। शुद्ध भूमि है कारण-जगत्; कारणसे चित्-शक्तिका अभिनिवेश हुए बिना यहांकी मूर्च्छित शक्ति नहीं जगती। वहांके लिये एक अभिलाषा लेकर यहांकी शक्ति जगती है। किंतु प्रति मुहूर्त्त

ही उसकी तुष्टि हो रही है वहांके ही अभिनिवेशके द्वारा। रूप जैसे भाव होना चाहता है वैसे ही भाव भी चाहता है रूपमें प्रस्फुटित हो उठना। उसीसे हो रहा है जड़का चिन्मय रूपांतर। जड़की चरम सार्थकता बस इसीमें है। प्रकृतिकी भी यही परमा सिद्धि है। यह असंभव बिलकुल नहीं है, क्योंकि चित् और जड़के बीच ऊपर उठने और नीचे उतरनेके पथमें कांटा कहीं भी नहीं है, स्वरूप-सत्यका भेद भी नहीं है दोनोंके बीच।

इस विषयको एक और दिशासे हम देख सकते हैं। गभीरका अनुभव है आत्मसत्ताका अनुभव; अपने अंदर डूबकर हम अपने ही स्वरूपसत्यका परिचय पाते हैं। इस परिचयकी भी एक परंपरा है। अपना सबसे अधिक स्थूल परिचय हम पाते हैं इस देहमें—प्राचीन वेदांत जिसे कहता है अन्नमय कोष। इस कोषकी भी एक निजी चेतना है उसके अधिष्ठानके रूपमें; उसे नाम दिया गया है अन्नमय पुरुष। अन्नमय कोषको हम मोटे तौरपर पहचानते हैं; अन्नमय पुरुष-को हम और भी कम पहचानते हैं; क्योंकि अंतर्मुखी हुए बिना पुरुष-तत्त्वका साक्षात्कार पाना संभव नहीं। अन्नमय कोष और अन्नमय पुरुषके गभीर प्रदेशमें है प्राणमय कोषमें अधिष्ठित प्राणमय पुरुष। और भी गहराईमें डूबते-डूबते क्रमशः हम पाते हैं मनोमय कोषमें अधि-ष्ठित मनोमय पुरुषको, विज्ञानमय कोषमें अधिष्ठित विज्ञानमय पुरुष-को, आनंदमय कोषमें अधिष्ठित आनन्दमय पुरुषको, हिरण्मय कोषमें अधिष्ठित चिन्मय दिव्य पुरुषको; उसकी भी गहराईमें है शुद्ध सन्मात्र—महाशून्यके वक्षस्थलपर स्थित निर्विशेष अस्तित्वके प्रत्ययके रूपमें।

इसी प्रकार कोष और पुरुषके भीतरसे जाकर हम पाते हैं अपने ही स्वरूपसत्यका परिचय। वह सत्य एक साथ ही रूप और बोधका सत्य है—अपनी ही आत्मचेतनामें अपने रूपका परिचय है। यह परि-चय मिलता है अनुभवकी क्रमिक गभीरताकी ओरसे। किंतु उसीके साथ-साथ उसकी व्याप्तिका भी एक पथ है। गभीरतामें यदि मिलता है आत्माका परिचय तो उसीका आश्रय करके व्याप्तिके पथमें मिलता

है विश्वका परिचय। मेरे गभीर तलमें जो 'मैं' सिमटा बैठा है, वह 'मैं' ही फैला हुआ है विश्वभरमें। विश्वके साथ, इसी कारण, हमारा एक अंगांगी सम्पर्क है—अंततः रूपकी ओरसे। मेरी पिंड-देह ब्रह्मांड-देहका ही अंग है—यह बात स्वीकार करनेमें मुझे कोई अड़चन नहीं। उसी तरह मैं कह सकता हूं कि मेरा व्यष्टि-प्राण समष्टि-प्राणका ही एक अंग है। व्यष्टिको समष्टिके अंगके रूपमें उपस्थापित करना वैज्ञानिक दृष्टिकोणका विरोधी नहीं है। समष्टिप्राण ही प्राणभूमि या प्राणलोक है—जैसे समष्टि-जड़को हम कह सकते हैं जड़लोक। इस प्रकार अपने ही आत्मपरिचयके अंतरालमें हम पाते हैं विश्वपरिचयकी एक परंपरा—अपने ही आत्मानुभवकी व्याप्तिके द्वारा। वे ही रूपधातुकी शुद्ध भूमियां हैं—प्राचीनोंकी भाषामें 'लोक-संस्थान' हैं।

ये लोकसंस्थान परस्पर ओतप्रोत हैं। ऊर्ध्वलोककी शुद्ध शक्तिके दबावसे अधोलोककी नीद्रित शक्ति जग उठती है—प्रकृति-परिणामका यही एक विधान है। अपनी प्राकृत भूमिकामें भी हम उसका परिचय पाते हैं—शुद्ध संकल्पके तीव्र संवेगके द्वारा आधारशक्तिको जिस समय जगा देते हैं। ठीक इसी धारासे अतिमानस-भूमिकाके दबावसे जड़ प्राण और मनकी भूमिकामें अतिमानस-शक्तिका स्फुरण भी अवश्यंभावी है।

(क्रमशः)

पूर्णयोगकी समस्याएं

(४)

अतिमानस और सच्चिदानंद

पिछले तीन अंकोंमें पृथ्वीपर अतिमानसके अवतरणसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नोत्तर प्रकाशित किये गये थे। इस अंकमें इस विषयके ज्ञानपक्षको स्पष्ट करनेवाले पत्र दिये जा रहे हैं। जिनका श्रीअरविन्दके बड़े ग्रन्थोंके साथ बहुत परिचय नहीं है ऐसे लोगोंके लिये ये रुचिकर होंगे; क्योंकि ये अपेक्षाकृत सरल शैलीमें लिखे गये हैं और आत्माविषयक सत्योंको इस प्रकार प्रगट करते हैं कि श्रीअरविन्दके दर्शनमें जिनका दृढ़ आधार नहीं बना है ऐसे लोग भी उसे सरलतासे समझ सकते हैं। जिन साधकोंको ये पत्र लिखे गये थे, उन्होंने श्रीअरविन्दके लेखोंका सूक्ष्म अध्ययन नहीं किया था, इसलिये शायद इस बातको ध्यानमें रख उनकी समझके अनुकूल ही ये पत्र लिखे गये थे। तो भी, सरलतासे होनेवाले लाभके साथ-साथ उनकी सूक्ष्मता और गाम्भीर्यमें कोई हानि नही हुई है, क्योंकि श्रीअरविन्दके उच्च ग्रन्थोंके समान इनमें भी दार्शनिक निरूपण पूर्ण रूपसे विद्यमान है। श्रीअरविन्दके पत्रलेखनका सर्वोत्कृष्ट गुण यह है कि वे प्रायः विभिन्न साधकोंको एक ही विषयपर लिखते हैं, परन्तु उत्तर जिस साधकको दिया जा रहा होता है उसकी ही समझके अनुरूप होता है और उसमें उसकी अपनी साधनाके मार्गका ही सूचन होता है; इससे पाठकको एक ही सत्यके अनेक प्रकरणानुसार विभिन्न स्वरूप जाननेका अवसर मिलता है।

इस लेखमें 'अतिमानस और सच्चिदानन्द' इस समस्यापर विवेचना की गयी है। यद्यपि श्रीअरविन्दने अपने ग्रन्थोंमें चरमतत्त्वोंके विषयमें कई स्थानोंपर लिखा है, फिर भी, बहुत-से लोग अतिमानस और सच्चिदानन्दके सच्चे सम्बन्धको पूरी स्पष्टतासे देख नहीं सके हैं और उन्हें यह

भी नहीं समझमें आता कि सच्चिदानन्दके रूपमें आत्माका साक्षात्कार करनेके बाद भी अतिमानसका साक्षात्कार क्यों आवश्यक रहता है। इस लेखमें मुख्यतः इस समस्याके दार्शनिक पहलूपर चर्चा की गयी है; इसके व्यावहारिक पहलू—रूपांतरकी समस्यापर इतनी अधिक बात नहीं आयी है, वह चर्चा इस लेखमालाके प्रथम लेखमें आ गयी है।

साधक—"भगवान्‌के साथ एक हो जानेके बाद भी क्या अतिमानस साधकसे दूर रहेगा?"

श्रीअरविंद—"मानस-भूमिकापर भगवान्‌के साथ एकता सिद्ध हो सकती है—भगवान्‌को पृथ्वीपर अभिव्यक्त करनेके लिये तो अतिमानस आवश्यक है।" (१३-११-३३)

साधक—"आपने अपनी 'माता' पुस्तकमें लिखा है 'ऊपरसे अवतरित होती हुई और निम्नमेंसे खुलती हुई केवल सर्वोच्च अतिमानस-शक्ति ही स्थूल प्रकृतिको सफलतापूर्वक अपने हाथमें ले सकती है।' 'निम्नमेंसे खुलती हुई' से आपका आशय क्या है? निम्न क्या अब भी भगवान्‌के प्रति अचेतन नहीं है?"

श्रीअरविंद—"जहां भी भगवान् हैं, वहां सब कुछ है—बस अव्यक्त अवस्थामें, व्यक्तमें नहीं। भगवान् नीचे स्वयं अचेतनामें भी विद्यमान हैं; जड़में मन और प्राण अंतर्हित हैं, इसी प्रकार अतिमानस और सच्चिदानंद भी हैं। निम्न ऐसी कोई वस्तु नहीं जो भगवान्‌की सत्तासे बाहर हो। परंतु जड़में मनकी अभिव्यक्ति तभी हुई जब कि मनके अवतरणने उसे खोलकर क्रियाशील बनाया, यही बात अतिमानसके साथ है। तुमने 'खुलती हुई' शब्दपर ध्यान नहीं दिया; इसका मतलब ही यह है कि वहां सब उसमें बंद और छिपा पड़ा था।" (१६-११-३३)

साधक—"आप कहते हैं, 'भगवान् स्वयं अचेतनामें भी स्थित हैं।' क्या इसका मतलब यह नहीं है कि स्वयं दिव्य सत्ताओंने सारे संसारको सत्यकी ओर उन्नत करनेके लिये अपना महान् बलिदान दिया और नीचे पृथ्वीपर आकर अपनेको जड़में छिपा लिया, यहांतक कि अपने सच्चे स्वरूपको भी भुला दिया?"

श्रीअरविन्द —"कौन सत्ताएं ? तुम्हारी बात संसारमें अवतीर्ण होते हुए दिव्यप्रकाश और शक्तिके विषयमें ठीक है। परन्तु दिव्यचेतना तो पहलेसे ही विद्यमान थी। ऐसा न होता तो संसारका अस्तित्व ही न होता।" (१८-११-३३)

साधक —"अवतारका क्या अर्थ है ? उसकी उत्पत्ति क्या अति-मानस-भूमिकासे ही हो सकती है ?"

श्रीअरविन्द —"मालूम नहीं तुम्हारा क्या आशय है। अवतार है भौतिक शरीरद्वारा अभिव्यक्त होती हुई दिव्य चेतना और सत्ता। यह किसी भी भूमिकासे सम्भव हो सकता है।" (९-११-३३)

साधक —"क्या मानवसत्ता अपने सच्चे स्वरूपमें अतिमानससे उच्च नहीं है ?"

श्रीअरविन्द —मानवसत्ताका सच्चा स्वरूप क्या है—और अन्य सत्ताओंके सच्चे स्वरूपसे वह किन अर्थोंमें भिन्न है ? सबका सच्चा स्वरूप भगवान् हैं।" (९-११-३३)

साधक —"इस पृथ्वीपर भगवान्का साक्षात्कार प्राप्त करानेवाली शक्तियोंमेंसे ही तो अतिमानस भी होगा ?"

श्रीअरविन्द —"मेरा ख्याल है, तुम्हारा मतलब "अभिव्यक्ति करने-वाली" से है—भगवान्के प्रति सचेतन होनेके अर्थोंमें तो कोई भी भग-वान्को प्राप्त कर सकता है।

"मानव-शरीरमें निवास करनेवाली एक मानस-सत्ता है, मनसे इतने ऊंचे अतिमानसपर उसका अधिकार कैसे हो सकता है ? अधिमानस भी उससे बहुत ऊंचा है।" (९-११-३३)

साधक —"जैसे मनकी एक पूर्ण दिव्य भूमिका है उसी प्रकार प्राणकी भी अपनी पूर्ण दिव्य भूमिका होगी। वह भूमिका क्या है ?"

श्रीअरविन्द —"म न—अतिमानस; भावपुरुष (हृदय)—आनंद; प्रधान प्राण—तपस्; जड़—सत्।"

"ये संगतियां हैं—परन्तु प्राणको दिव्य बनानेके लिये अतिमानस एक पर्याप्त साधन है।" (१२-१-३४)

साधक —"चेतना" के विषयमें 'न. ब.'को लिखे गये आपके पत्रकी व्याख्या करते हुए किसीने कहा कि सत् या सत्ता श्रीअरविन्द हैं और चित् या चेतना श्रीमाताजी हैं। क्या यह ठीक है?"

श्रीअरविन्द —"....... व्यक्त करनेका यह मोटा ढंग है। चित् और सत्को इस प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता।" (२१-१०-३५)

साधक —"उसने आगे यह भी कहा कि परात्पर सच्चिदानन्दसे भी कोई परवस्तु है।"

श्रीअरविन्द —"लोग ऐसा इसलिये कहते हैं कि परात्परनिरपेक्ष, जिसे हम सत् कहते हैं केवल यही नहीं बल्कि जिसे हम असत् मानते हैं वह भी है। परन्तु वस्तुतः असत् जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिये परात्परकी धारणा परात्पर सत्, परात्पर चित्, परात्पर आनन्दके रूपमें की जा सकती है।" (२१-१०-३५)

साधक —"यदि 'अतिमानस पूर्ण सत्य-चेतना है' तो फिर अतिमानसके रूपमें इसका भेद क्यों किया गया; क्या सच्चिदानन्द भी स्वयं सत्यचेतना नहीं है?"

श्रीअरविन्द —"सच्चिदानन्द स्वयं एक सक्रिय चेतना नहीं है, वह केवल विशुद्ध सत्, चित् और आनंद है। सत्यचेतनाका अर्थ है एक ऐसी दिव्य-ज्ञानमयी चेतना जो अभिव्यक्तिके परम सत्यके विषयमें अबाधित, स्वाभाविक और प्रत्यक्ष रूपमें सज्ञान होती है और जिसे मनकी तरह उसकी खोज नहीं करनी पड़ती। सच्चिदानंद इस अभिव्यक्तिके पीछे सर्वत्र विद्यमान हैं, इसे सहारा दे रहे हैं और साथ ही इससे ऊपर भी हैं और उनका अनुभव अतिमानससे नीचे पाया जा सकता है—मन और प्राणतकमें उनकी अनुभूति हो सकती है।" (१०-११-३५)

साधक —"अपनी साधनाके प्रारंभिक दिनोंमें मुझे एक बार विशाल शान्तिका अनुभव हुआ था, उसमें मेरी चेतना ऊपर उठने लगी; एक खास ऊंचाईपर जाकर उसे आनंद, चित् और सत्का एक साथ और एक ही समय अनुभव हुआ। यह कहा जाता है कि अतिमानसके नीचे शांति और शक्ति, ज्ञान और संकल्प पृथक्-पृथक् या पृथक् स्वरूपोंमें कार्य करते

हैं। तो फिर मेरी चेतनाको उनका एक साथ अनुभव कैसे हुआ ?"

श्रीअरविन्द —"आनन्द, चेतना और सत्ता मिलकर सच्चिदानन्द होते हैं, और इनका अनुभव कहीं भी हो सकता है।

"वह वस्तु आनन्द, चेतना और सत्तासे बिलकुल भिन्न है। अतिमानस से नीचे ये स्वरूप भेदयुक्त होते हैं और यदि वे मिलकर कार्य करते हैं तो उसका कारण उनका पारस्परिक सम्बन्ध है, आंतरिक एकता नहीं। अलग-अलग वस्तुओंको एक दूसरेमें मिलाकर एक न बना डालो।"

साधक —आप कहते हैं कि सच्चिदानंदका कहीं भी—अतिमानसके नीचे भी—अनुभव हो सकता है। इसका त्रि-एकत्व अतिमानसके नीचे भी वही रहता है या वहां भिन्न स्वरूपमें दीखता है, उदाहरणके लिये चित्स्वरूपमें, सत्स्वरूपमें अथवा आनन्दस्वरूपमें, परन्तु उच्च भूमिकामें वे जिस प्रकार अभिन्न होकर रहते हैं उस स्वरूपमें नहीं ?"

श्रीअरविन्द —"साधक उसका एक साथ भी अनुभव कर सकता है अथवा विशुद्ध सत्स्वरूपमें, विशुद्ध चित्स्वरूपमें या विशुद्ध आनन्दस्वरूपम पृथक्-पृथक् भी।" (१२-११-३५)

साधक —"मुझे कहा गया है कि अतिमानसमें सब पदार्थ हैं और सब पदार्थ सच्चिदानंदके संकल्प या अभिव्यक्ति हैं; परन्तु उस प्रकार कहने मात्रसे हमें अतिमानसकी धारणा नहीं होती। मैं उनके बीचके सच्चे भेदको जानना चाहता हूं।"

श्रीअरविन्द —"सच्चिदानंदका संकल्प विद्या या अविद्यामें विभिन्न अवस्थाओंमें कार्य करता है—अतिमानस सत्य चेतना है, ज्ञान है और वह संकल्प वहां विशुद्ध ज्ञानको सहज भावसे क्रियात्मक रूप देता है—जब कि अतिमानसके नीचे वह (संकल्प) शक्तियोंको बिल्कुल विपरीत प्रकारसे खेलने देता है और अविद्यामयी इस लीलाके आवश्यकतानुसार उसमें सहायक या बाधक बनता है।" (५-११-३५)

साधक —"यदि मैं कहूं कि सच्चिदानंदका संकल्प विद्या और अ-विद्या दोनोंमें कार्य कर सकता है, जब कि अतिमानस संकल्प विद्यामें ही कार्य कर सकता है—अतिमानसके नीचे सच्चिदानंद अविद्याके आवश्यक-

तानुसार शक्तियोंको खेलने देता है, तो यह ठीक होगा ?"

श्रीअरविन्द —"केवल 'कार्य कर सकता है', यह नहीं बल्कि 'कार्य करता' है। उसका (अतिमानसका) अपना स्वाभाविक कर्म ज्ञानका कर्म है; यदि वह नीचे अवतीर्ण होता है तो अपने साथ ज्ञानका कर्म भी ले आता है। यदि वह केवल उच्च भूमिकासे कार्य करता है तो वह विशुद्ध अतिमानसिक नहीं, वरन् मिश्रित अतिमानस-कर्म होता है।"

(६-११-३५)

—सिनर्जिस्ट

श्रुताञ्जलि

(मीरा के भजन)

रचयित्री

श्री इन्दिरा देवी

मूल्य ५)

मिलनेके पते—

(१) श्रीअरविन्द आश्रम, पांडीचेरी

(२) श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी लि.

३२, रैंपर्ट रो, बंबई–१.